bdkbZ 3 ekDlZoknh fl)kUr

bdkbZ dh :ijs[kk

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सामाजिक स्तरीकरण और मार्क्स

3.2.1 श्रम का विभाजन

3.2.2 वर्ग का तात्पर्य

3.2.3 वर्गों का विकास

3.3 उत्पादन का रूप

3.4 वर्ग संघर्ष

3.5 वर्ग जागरूकता

3.6 पूँजीवादी औद्योगिक

3.7 मार्क्स समाज के सिद्धांत की आलोचना

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

3-0 mís';

इस इकाई में समाजशास्त्र के संस्थापक कार्ल मार्क्स के विचार पर चर्चा की जाएगी। इस दार्शनिक ने समाजशास्त्रीय चिंतन में बड़ा ही सार्थक योगदान दिया है। मगर यहां हम उनके योगदान के एक ही पक्ष सामाजिक स्तरीकरण पर अपनी चर्चा केन्द्रित करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझेंगे कि

- समाज में वर्ग किस तरह से उभरते हैं;
- वर्ग निर्माण के आधार को समझ पाएंगे; और
- सामाजिक स्तरीकरण में वर्गों की भूमिका।

3-1 çLrkouk

कार्ल मार्क्स (1818–1881) की गिनती अब तक के सबसे महान दार्शनिकों में होती है। उनके विचारों ने लोगों, वर्गों और राष्ट्रों को प्रभावित किया है। समाज और सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने में मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकतावादी सिद्धांत का बड़ा योगदान रहा है। इसने पारंपरिक दृष्टिकोणों का एक आमूल परिवर्तनवादी विकल्प को विश्व के सामने प्रस्तुत किया। सामाजिक विकास को मार्क्स ने वर्ग द्वंद्व के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया था। सामाजिक स्तरीकरण उनके विश्लेषण की धुरी था।

सामाजिक स्तरीकरण उनकी दृष्टि में एक ओर एकीकारी संरचना के बजाए विघटनात्मक है, मगर वहीं वह इसे सामाजिक विकास के लिए अपरिहार्य मानते हैं।

इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण पर मार्क्स के विचार पर चर्चा करेंगे। इसके बाद हम सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था को समझने में वर्ग के विश्लेषण के महत्व पर चर्चा करेंगे।

3-2 lkekftd Lrjhdj.k vkj ekDl

सामाजिक परिवर्तन को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकतावाद का सिद्धांत अपनाया। उनके विचार में इतिहास का पहला प्रस्थान बिंदु मानव का अस्तित्व में होना था। मानव समाज का भौतिक गठन और मनुष्यों का प्रकृति से संबंध विकास के महत्वपूर्ण द्योतक हैं। सभी प्राणी जीवित रहने के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। पेड़ पौधे मिट्टी और पानी के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं, गाय घास के लिए प्रकृति पर आश्रित रहती है तो शेर को जीवित रहने के लिए अन्य जंतुओं का शिकार करना पड़ता है। जीवित रहने के लिए मनुष्य भी प्रकृति पर निर्भर रहता है। मगर मनुष्य और अन्य प्राणियों में यही बुनियादी अंतर है कि वह अपने जीवन के लिए प्रकृति का कायापलट कर सकता है। मगर अन्य प्राणियों को प्रकृति के अनुकूल ढलना पड़ता है। गाय घास खाती है मगर उसे उगा नहीं सकती। इधर मनुष्य प्रकृति का दोहन तो करता है मगर उसमें इसकी कायापलट की शक्ति भी होती है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि मनुष्य में अपनी आजीविका के साधन उत्पन्न करने की क्षमता होती है। मार्क्स इसलिए अपनी पुस्तक जर्मन आइडियोलजी में कहते हैंः "मनुष्य को उसकी चेतना, धर्म या किसी भी चीज से पशुओं से अलग किया जा सकता है। मनुष्य जैसे ही अपने। जीवन–निर्वाह के साधन उत्पन्न करने लगता है वह अपने आपको पशुओं से अलग करके देखने लगता है। यह चरण उसकी शारीरिक स्थिति निर्धारित करती है। जीवन–निर्वाह के वास्तविक साधन उत्पन्न करके मनुष्य परोक्ष रूप से अपने वास्तविक भौतिक जीवन का सृजन करता है।'' इसी उत्पादन के जरिए ही मनुष्य का विकास हुआ। आदिम मनुष्य पूरी तरह से प्रकृति पर ही निर्भर था। इसका कारण यह था कि उसका जीवन–निर्वाह शिकार या भोजन संग्रहण से ही होता था। ये आदिम समाज जीवित रहने के लिए अपनी न्यूनतम जरूरतें पूरी कर पाते थे। मनुष्य ने प्रकृति को अपने उपयोग के लिए रूपांतरण करना शुरू किया तो मानव समाज में लोगों के निर्वाह के लिए अधिक उत्पन्न करने की क्षमता आई।

3-2-1 Je dk foHkktu

प्रौद्योगिकी या टेक्नोलॉजी के विकास के जरिए मनुष्य ने कृषि को उन्नत किया और इससे उसने स्थायी रूप से बसे समुदायों का निर्माण किया। उत्पादन के बढ़ने पर ये समुदाय अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न करने लगे। इस अतिरिक्त उत्पादन के फलस्वरूप उन लोगों का निर्वाह करना संभव हो गया जो। भोजन के उत्पादन से जुड़े नहीं थे। आरंभिक समाजों में सभी लोग एक प्रकार के क्रिया–कलापों में लगे रहते थे जो उनके अस्तित्व के लिए जरूरी थे। जैसे रोटी, कपड़ा और मकान। अतिरिक्त उत्पादन से अब अन्य लोगों के लिए अपने क्रिया–कलापों को इन बुनियादी जरूरतों से आगे फैलाना संभव हो पाया। इसलिए कुछ लोगों ने भोजन उत्पन्न किया

जो सभी के भरण–पोषण के लिए पर्याप्त थे तो अन्य लोग दूसरी गतिविधियों में लग गए। इसे ही श्रम का विभाजन कहा गया।

इस व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अन्य लोगों की इस प्रक्रिया से अलग छिटककर उत्पादन के साधनों पर अधिकार जमा लिया। इस तरह जो संपत्ति अभी तक सभी के सामूहिक स्वामित्व में थी वह चंद लोगों के हाथों में चली गई जिससे निजी संपत्ति की धारणा उत्पन्न हुई। इसके बाद सभी लोगों के हित साझे नहीं रहे। हितों में अब तरह–तरह के अंतर आ गए। इस प्रकार व्यक्तियों के निजी हित समुदायिक हितों से बिल्कुल भिन्न हो गए। मार्क्स कहते हैं, "श्रम का विभाजन और निजी संपत्ति समरूप अभिव्यक्तियां हैं। इसका निजी और सामूहिक हितों में अंतर्विरोध था।''

मानव समाज में निजी संपत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विषमता से वर्गों का निर्माण होता है। यही वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनते हैं। सभी स्तरित समाजों में मोटे तौर पर प्रायः दो समूह मिलते हैंः शासक वर्ग और शासित वर्ग। इसके फलस्वरूप इन दोनों वर्गों के बीच अपने–अपने हितों को लेकर बुनियादी द्वंद्व उत्पन्न होता है। अपनी अन्य प्रसिद्ध कृति कंट्रीब्यूशंस ऑफ द क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी में मार्क्स कहते हैं कि समाज की विभिन्न संस्थाएं जैसे कानूनी और राजनीतिक व्यवस्थाएं, धर्म इत्यादि असल में शासक वर्ग के वर्चस्व का माध्यम हैं और ये उसके हितों को साधने का काम करती हैं। आइए, अब यह जाने कि वर्ग' का क्या मतलब है।

3-2-2 oxZ dk rkRi;Z

मार्क्स ने स्तरीकरण की सभी प्रणालियों में दो मुख्य स्तरों के लिए 'वर्ग' शब्द का प्रयोग किया है। जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया है, सभी स्तरित समाजों में मुख्यतः दो बड़े सामाजिक समूह होते हैं–एक शासक वर्ग और दूसरा शाषित वर्ग। शासक वर्ग को शक्ति या सत्ताधिकार उत्पादन के साधनों पर अधिकार करने से हासिल होता है। इस तरह यह अन्य वर्गों के श्रम के फल को हथिया लेने में सक्षम रहता है। द एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट में मार्क्स वर्ग का वर्णन इस प्रकार करते हैंः ''जब लाखों लोग अस्तित्वभर आर्थिक दशा में जी रहे हों, जो उनकी जीवन शैली, उनके हित और संस्कृति को अन्य वर्गों के लोगों से अलग करती हो और उन्हें इन वर्गों के द्वेषपूर्ण विरोध में ला खड़ा करती हो, तो ऐसे लोग एक वर्ग बन जाते हैं।''

vH;kl 1

अपने परिचित लोगों से वर्ग के अभिप्राय पर चर्चा कीजिए। इसमें आपको वर्ग की जो व्याख्याएं जानने को मिलती हैं उन्हें नोट कर लीजिए। अब इन व्याख्याओं की तुलना मार्क्स की वर्ग अवधारणा से कीजिए।

मार्क्स के अनुसार स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों से सामाजिक समूहों के संबंधों से उत्पन्न होती है। मार्क्स ने वर्ग शब्द का प्रयोग स्तरीकरण की सभी पद्धतियों में मुख्य स्तरों के लिए किया था। वर्ग की उन्होंने जो परिभाषा दी है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इस परिभाषा के अनुसार वर्ग में दो मुख्य समूह होते हैं जिनमें से एक उत्पादन के साधनों पर अधिकार किए रहता है। सामाजिक अर्थव्यवस्था

में इसे विशिष्ट दर्जा हासिल होने के कारण यह वर्ग अन्य वर्ग के श्रम के फल को हथिया लेता है। इस प्रकार वर्ग एक सामाजिक समूह है, जिसके सदस्यों का उत्पादन शक्तियों से एक साझा संबंध होता है। यह दरअसल एक वर्ग के दूसरे वर्ग से अलग करता है।

मार्क्स की इस परिभाषा से हमें वर्ग का एक और पहलू यह दिखाई देता है कि वर्ग एक दूसरे के विरोध में खड़े होते हैं। मगर साथ–साथ वर्गों में परस्पर निर्भरता का संबंध भी होता है। अगर एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपने अधिकार के बूते दूसरे वर्ग के श्रम को हथिया सकता है तो इसका यही मतलब है कि दोनों वर्ग एक दूसरे पर निर्भर तो हैं ही, मगर वहीं वे परस्पर विरोधी भी हैं। वर्गों के बीच यह संबंध एक परिवर्तनकारी संबंध है जिसकी परिणति सामाजिक परिवर्तन में होती है। यही कारण है कि मार्क्स की दृष्टि में वर्ग ही सामाजिक कायापलट की धुरी हैं। कम्युनिष्ट मैनिफेस्टो में मार्क्स लिखते हैंः ''अभी तक, सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।'' दूसरी तरह से कहें, तो मानवजाति के इतिहास में वर्गों के संघर्ष के कारण परिवर्तन आते हैं। इसलिए वर्ग द्वंद्व सामाजिक बदलाव का इंजन है।

ck/k ç'u 1

1) श्रम के विभाजन के बारे में मार्क्स के क्या विचार हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) मार्क्स के अनसार वर्ग का क्या मतलब है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3-2-3 oxZ dk fodkl

समाज का विकास वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया के जरिए होता है। एक वर्ग का किसी अन्य वर्ग पर प्रभुत्व होने के कारण ही वर्ग द्वंद्व उत्पन्न होता है। इसके साथ–साथ प्रौद्योगिकी में आने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पादन की प्रक्रिया भी विकसित होती है, जिसके फलस्वरूप वह उन्नत होती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वर्गीय ढांचे में परिवर्तन आ जाता है क्योंकि उत्पादन तकनीकों में वृद्धि होने के कारण

मौजूदा वर्ग अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। इससे नए वर्गों की रचना होती है जो पुराने वर्गों का स्थान ले लेते हैं। इससे वर्ग संघर्ष और बढ़ता है। मार्क्स के मतानुसार पश्चिमी समाजों का विकास मुख्यतः चार चरणों में हुआः आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंतवादी समाज और पूंजीवादी समाज। आदिम साम्यवाद के चरण के प्रतिनिधि प्रागैतिहासिक समाज हैं, शिकार और भोजन संग्रहण पर निर्भर करते हैं और जिनमें श्रम का कोई विभाजन मौजूद नहीं है। इस चरण के बाद सभी समाज मुख्यतः दो वर्गों में बंटे होते हैंः प्राचीन समाज में ये स्वामी और दास, सामंतवाद समाज में ये जमींदार और कृषिदास (काश्तकार) और पूंजीवादी समाज में ये पूंजीवादी और वैतनिक श्रमिक हैं। प्रत्येक युग में उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम शक्ति की पूर्ति शासित वर्ग यानी दास, कृषिदास और वैतनिक श्रमिक वर्ग ही करता था।

परस्पर विरोधी समूहों में वर्गों का ध्रुवीकरण वर्गीय चेतना का परिणाम है। यह एक अलग मगर वर्ग से ही जुड़ा प्रसंग है। वर्गीय चेतना अनिवार्यतः वर्ग–रचना का परिणाम नहीं होती। वर्गीय चेतना का संबंध वर्गों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया से है। अपने वर्गीय हितों के जाने बगैर भी एक वर्ग अस्तित्व में हो सकता है।

c,Dl 3-01

किसी खास समूह के लोग, जिसकी सदस्यता उत्पादन के ऐसे संबंधों से तय होती है जिनमें या तो वे जन्म लेते हैं या स्वेच्छा से प्रवेश करते हैं, जब वे एक विशिष्ट या भिन्न समूह के रूप में अपने अस्तित्व के बारे में सजग हो जाते हैं तो उन्हें अपने वर्ग के प्रति चैतन्य माना जाता है। उदाहरण के लिए, मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए बराबर संघर्षरत रहते हैं जो उनके हित में है। ये हित पूंजीवादी समाज के आर्थिक संबंधों के परिणाम हैं। ये हित वस्तुनिष्ठ रूप से विद्यमान होते हैं, जिसका यह अर्थ है कि. इन हितों को कोई सिद्धांत राजनीतिक दल, मजदूर संघ या इस तरह की कोई बाहरी शक्ति ईजाद नहीं करती है। मगर इन वस्तुनिष्ठ स्थितियों का विद्यमान रहना ही पर्याप्त नहीं होता। कामगारों को इन स्थितियों के बारे में जागरूक होना चाहिए।

एटीन्थ ब्रुमेयर ऑफ लुई बोनापार्ट के निष्कर्ष में मार्क्स वर्ग निर्माण की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि एक वर्ग तभी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होता है, जब वह अन्य वर्ग से अपने विरोध के प्रति जागरूक हो। अपने सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ दास कैपिटल में मार्क्स कहते हैं कि अगर श्रमिकों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो हो सकता है कि वे इस बात से अनभिज्ञ रहें कि उनके वर्गीय हित अन्य वर्ग (पूंजीवादी वर्ग) के हितों के प्रतिकूल हैं। उन्होंने कहा है कि पूंजीवादी उत्पादन में उन्नति एक ऐसा श्रमिक वर्ग खड़ा करता है जो अपनी शिक्षा, परंपरा और स्वभाव से उत्पादन की स्थितियों को प्रकृति के स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में देखता है। यानी वह उन्हें स्वाभाविक, प्रकृति–सममत मानता है साधारण स्थितियों में श्रमिक को स्वयंसिद्ध नियमों के रूप में उत्पादन के प्राकतिक नियमों के हवाले किया जा सकता है साधारण स्थितियों में श्रमिक को उत्पादन के प्राकृतिक नियमों के हवाले किया जा सकता है। वर्ग चेतना के किससित होने पर वर्ग संबंधों की यह गतिहीन प्रकृति एक गतिशील और परिवर्तनकारी स्वरूप धारण कर लेती है। वर्ग चेतना के बिना श्रमिक वर्ग पूंजी के संबंध में श्रमिक वर्ग बन के रह जाता है। यह अपने–आप में एक वर्ग मात्र है। द पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी में मार्क्स कहते हैं कि जो श्रमिक वर्ग इस स्थिति में रहता हो

वह व्यक्तियों का एक समूह मात्र है और अपने–आप में एक वर्ग है। यह जब अपने संघर्ष में पूंजीवाद के खिलाफ संगठित हो जाता है तो यह "अपने लिए एक वर्ग का स्वरूप धारण कर लेता है, जिन हितों की यह रक्षा करता है। वे इस वर्ग के हित बन जाते हैं।''

मार्क्सवादी ढांचे में इस प्रकार हम वर्ग को एक गतिशील, परिवर्तनकारी इकाई के रूप में पाते हैं। प्रौद्यागिकी में उन्नति के साथ–साथ इसके स्वरूप में भी बदलाव आ सकता है, मगर इसकी रचना का आधार वही रहता है। वर्ग किसी भी समाज में स्तरीकरण पद्धति का मुख्य आधार है। वर्ग का सीधा संबंध हर समाज में प्रचलित उत्पादन प्रक्रिया से है। वर्गीय ढांचे में बदलाव उत्पादन प्रक्रिया में बदलाव होने से आता है। इस प्रकार समाज में स्तरीकरण की व्यवस्था उत्पादन संबंधों पर निर्भर होते हैं।

3-3 mRiknu dk :i

अतीत के प्रत्येक काल में उत्पादन का रूप स्थिति विशेष में समाज की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विशेषताओं के साथ वर्ग संबंधों की प्रकृति के बारे में भी जानकारी देता है। समाज में वर्गों की उत्पत्ति उत्पादन के विशेष रूपों के अनुसार होती है। उदाहरण के लिए उत्पादन के पूँजीवादी रूप में उच्च स्तर की तकनीक एवं पूँजी उत्पादन के साधन बन जाते हैं। इस व्यवस्था में एक वर्ग के पास उत्पादन के साधन होते हैं जबकि अन्य वर्ग उससे वंचित रहते हैं। इससे समाज का दो वर्गों अर्थात् पूँजीपति वर्ग तथा श्रमिक वर्ग में विभाजन हो जाता है।

c,Dl 3-01

वर्ग एक दूसरे के प्रतिरोध में संघठित होने लगते हैं तथा उत्पादन व्यवस्था में एक समान हितों और आर्थिक स्तरों के कारण उनकी पहचान पक्की हो जाती है। इस व्यवस्था में पारंपरिक विरोध वर्ग संघर्ष की ओर ले जाते हैं। उत्पादन के नए रूप में एक नया . समाज बन जाता है जिसमें नए वर्ग होते हैं।

3-4 oxl l?k"kl

मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष होना सभी समाजों की विशेषता है। उनका मत है कि इस संघर्ष से बचा नहीं जा सकता क्योंकि प्रत्येक समाज के शासक वर्ग में ही उसके विनाश के बीज मौजूद होते हैं और देर सबेर सामने आ जाते हैं। इस वर्ग संघर्ष में आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक अत्याचार होना एक विशेषता है। शोषण से विरोधी वर्ग का उदय होता है। इस प्रकार वे उस व्यवस्था से अपने को पराया महसूस करने लगते हैं जिसे बनाने में वे सहायता करते हैं। इसे यूँ कहा जा सकता है कि श्रम के बिना पूँजीवाद टिक नहीं सकता लेकिन श्रमिक उसमें पराए ही रहते हैं। जागरुकता बढ़ने से श्रमिक वर्ग संघटित होने लगता है और जब अत्याचार के साथ टकराव होता है वे व्यवस्था को नष्ट कर देते हैं। फिर एक नई सामाजिक व्यवस्था की शुरुआत होती है तथा स्वामित्व के निजी साधनों की समाप्ति होने से वर्गवाद कम हो जाता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि जब वर्ग जागरुकता विकसित होती है और वर्ग स्वतः ही अपने आप में संगठित हो जाते हैं इस प्रकार मार्क्स के अर्थों में वर्ग बन जाते हैं। इस प्रकार वर्ग से ही वर्ग बन जाता है।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार सामाजिक असमानता की मुख्य विशेषता है शक्ति–आर्थिक शक्ति । समाज दो वर्गों में – जो इस शक्ति को रखता है और जो इससे वंचित है, विभाजित हो जाता है अर्थात् शोषक व शोषित । मार्क्स की आर्थिक व्याख्या में इस शक्ति की असमानता को आधार बनाया गया है।

जिनके पास उत्पादन के संसाधन होते हैं उन्हीं के पास शक्ति होती है और वे इनसे वंचित व्यक्तियों पर शासन करते हैं। इस प्रकार किसी समाज में वर्ग नियंत्रण ही मुख्य विचार है।

3-5 oxZ tkx#drk

वर्ग निर्माण एवं वर्ग जागरुकता की स्थितियों के बारे में मार्क्स बताता है।

i) वर्गों में आर्थिक लाभों के विभाजन के बारे में संघर्ष

ii) एक वर्ग की स्थिति के बारे में उसी वर्ग के व्यक्तियों में आसानी से संप्रेषण ताकि विचार और कार्यक्रमों का पहले ही प्रचार किया जा सके।

iii) वर्ग विकास वर्ग जागरुकता जिसमें सभी सदस्यों में परस्पर संबद्धता तथा अपने ऐतिहासिक भूमिका के महत्व की भावना होती है।

iv) उस आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण न कर पाने की अयोग्यता जिस पर निम्न वर्ग का गहन असंतोष होता है। यह असंतोष उनके प्रति होता है जिसे वह शोषक मानती है।

v) आर्थिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप राजनीतिक संगठन की स्थापना, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा वर्ग. जागरुकता में वृद्धि होना।

प्रत्येक काल में शासक वर्ग का विचार शासन करते रहने के विचारों को निर्धारित करता है। जैसे समाज में संसाधनों पर अधिकार रखने वाला वर्ग उसी समय प्रबुद्ध वर्ग पर भी शासन करता है। किसी काल विशेष में क्रांतिकारी विचारों की उपस्थिति क्रांतिकारी वर्ग की उपस्थिति की पूर्व संभावना होती है। उत्पादन के सभी संसाधनों में स्वयं क्रांतिकारी वर्ग सबसे बड़ी उत्पादन शक्ति है। इस प्रकार वह. वर्गों को ऐसे विशिष्ट उप विभाजनों में बाँटता है जिनके हित प्रायः भिन्न–भिन्न होते हैं । मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बड़े सामाजिक वर्गों में संबंध एक परस्पर निर्भरता और संघर्ष पर आधारित होते हैं।

3-6 iwathoknh vk|kfxd lekt

इस प्रकार मार्क्सवादी पूँजीवादी समाज में दो मुख्य वर्ग होते हैं । एक पूँजीपति (बूर्जुआ) जो मजदूरी देता है तथा दूसरा (सर्वहारा) जो मजदूरी प्राप्त करता है। मार्क्स भविष्यवाणी करता है चूँकि पूँजीवाद का विकास होने से ये दोनों वर्ग और अधिक समानांतर होते हैं। इसके विपरीत डेहेंड्रोफ का मत है कि वर्ग अधिक से अधिक विषम हो जाएँगे अर्थात् उनमें विभिन्नताएँ बढ़ेगी तथा श्रमिक वर्ग तीन विशेष श्रेणियों में अकुशल, अर्धकुशल तथा कुशल श्रमिकों में विभाजित हो जाएंगे। इनके स्वार्थ भी अलग अलग होंगे।

कार्ल मार्क्स जिन दो वर्गों की बात करता है इससे भिन्न वेबर मध्य वर्ग की भी बात करता है। उसके अनुसार पूँजीवाद के विकास से मध्य वर्ग में भी विस्तार होता है। 19वीं शताब्दी में मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी एक ऐसी स्थिति आएगी कि पूँजीवाद के विकास में मध्य वर्ग सर्वहारा वर्ग बन जाएगा। लेकिन 1950 और 1960 के दशकों में अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया कि स्थिति इसके विपरीत थी।

उनका मत था कि जहाँ बूर्जुआ प्रक्रिया घटित हो रही थी वहीं श्रमिकों की संख्या भी मध्य वर्ग में शामिल हो रही थी। उनके अनुसार औद्योगिक समाज में वर्ग पेंटागॉन आकार (पंचभूजी आकार) ले रहा था जहाँ सबसे अधिक आबादी श्रमिकों की अपेक्षा मध्य वर्ग की थी। क्लार्क केर के अनुसार यह विकसित उद्योगीकरण की आवश्यकता थी जिसमें उच्च शिक्षित, प्रशिक्षित तथा कुशल श्रमिक कार्य बल की आवश्यकता थी।

3-7 ekDlZ dk fl)kar dh vkykpuk

मार्क्स के सिद्धांत बहुत ही आलोचना के विषय रहे हैं। अतः

i) उनके वर्ग के साथ पूर्वाग्रहों के कारण उन्होंने अन्य सामाजिक संबंधों जैसे कि राष्ट्रवादी प्रभाव तथा इतिहास में राष्ट्रों के बीच संघर्ष आदि की उपेक्षा की है। उन्होंने यूरोपीयं राष्ट्रों में बढ़ती राष्ट्रीय समुदायिक भावना की भी उपेक्षा की है जिसके द्वारा सामान्य मानव हितों पर बल देने के साथ नई नैतिक एवं सामाजिक संकल्पनाओं को बढ़ावा दिया है।

ii) मार्क्स की उनके वर्ग विभाजन की संकल्पना के आधार पर भी आलोचना की गई है। साक्ष्य बताते हैं कि 20वीं सदी के पूँजीवाद ने इस तरह की स्थितियाँ उत्पन्न की हैं जिनमें श्रमिक वर्ग को अधिक समय तक पूरी तरह उपेक्षित नहीं किया जा सकता। सामान्य जीवन स्तर, सामाजिक सेवाओं तथा रोजगार की सुरक्षा में विस्तार होने के साथ व्यक्ति की आम स्थिति में सुधार हुआ है।

iii) नए मध्य वर्ग की उत्पत्ति के कारण भी वर्ग धुव्रीकरण का सिद्धांत गलत सिद्ध हुआ है। यह नया वर्ग कामगारों, पर्यवेक्षकों, प्रबंधकों आदि से निर्मित हुआ है जो व्यवसाय, उपभोग और जीवन शैली के आधार पर स्तरीकरण अर्थात् सामाजिक प्रतिष्ठा का महत्वपूर्ण घटक है।

iv) मार्क्सवादी सिद्धांत में गतिशीलता की उच्च दर ने वर्ग दृढ़ता को प्रस्तुत किया है जिसके परिणामस्वरूप समूह स्थिति और महत्वपूर्ण बन गयी।

v) कुशल व्यवसाय के अर्थों में श्रमिक वर्ग अत्यधिक रूप से उपेक्षित हो गया। इसलिए वर्गों में समरूपता नहीं रही। मध्य वर्ग के विस्तार तथा जीवन स्तर में सामान्य सुधार के कारण श्रमिक वर्ग बूर्जुआ वर्ग में परिवर्तित होने लगा।

3-8 lkjk'k

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण पर समाजशास्त्र के दो संस्थापकों कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के दृष्टिकोणों पर चर्चा की। दोनों दार्शनिकों के विचारों ने मानव विकास को बेहद प्रभावित किया है। कार्ल मार्क्स के विचार उनके ऐतिहासिक भौतिकतावाद पर आधारित थे। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा। उनके अनुसार मानव समाज में होने वाले परिवर्तनों का आधार उत्पादन का

बदलता स्वरूप है। वर्ग समाज में स्तरीकरण व्यवस्था का आधार हैं। उत्पादन संबंधों के बदलने पर स्तरीकरण का स्वरूप भी बदल जाता है। इस तरह नए वर्गों ने पुराने वर्गों की जगह ले ली। इसके फलस्वरूप वर्गों के बीच नए संबंध भी बने। इसलिए मार्क्स की दृष्टि में वर्ग और स्तरीकरण समरूप हैं। मार्क्स ने वर्ग–चेतना की भूमिका को वर्ग हितों की साधना के लिए महत्वपूर्ण माना है।

3-9 'kCnkoyh

ox : मार्क्स के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन साधनों पर अपने अधिकार या स्वामित्व या उसकी कमी के कारण एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। मगर वेबर के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन स्वामित्व या अधिकार के चलते एक दूसरे से अलग होते हैं और जिन्हें समान जीवन–अवसर प्राप्त होते हैं।

ox&psruk : एक वर्ग में यह चेतना कि सामाजिक क्रम–परंपरा में उसकी विशिष्ट जगह है।

fLFkfr@gfl;r : सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रभावशाली दावा। वेबर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि स्थिति/हैसियत वर्ग अवरोधों को पार कर लेती है।

3-10 dqN mi;ksxh iqLrdsa

टी.बी. बोटोमोर और एम रुबेल (संपा.) कार्ल मार्क्सः सेलेक्टेड राइटिंग्स इन सोशियोलाजी ऐंड सोशल फिलॉसफी, पेंग्विन बुक्स, 1963

एच.एच. गर्थ और सी.डब्लू मिल्स (संपा.) फ्रॉम मार्क्स वेबरः एसेज इन सोशियोलॉजी, रौटलेज ऐंड केगर पॉल, 1948

3-11 ck/k ç'uksa ds mÙkj

ck/k ç'u 1

1) प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) में विकास होने के साथ–साथ उत्पादन भी उन्नत हुआ। इससे बेशी उत्पादन संभव हुआ और इसके फलस्वरूप क्रियाकलापों का वर्गीकरण यानी श्रम का विभाजन हुआ। इसका एक परिणाम यह भी रहा है कि उत्पादन के साधनों पर चंद लोगों का अधिकार हो गया जिससे निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। मार्क्स के अनुसार इससे लोगों के हित सामुदायिक हितों से अलग हो गए और इस प्रकार समाज में वर्गों का उदय हुआ।

2) मार्क्स के अनुसार स्तरीकरण व्यवस्था में दो मुख्य स्तर होते हैं। इनमें एक शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग है। उत्पादन के साधन शासक वर्ग के अधिकार में रहते हैं जिसके बूते यह वर्ग श्रमिक वर्ग के श्रम को हथिया लेता है। अंततः ये वर्ग एक दूसरे के विरोधी होते हैं।

Lrjhdj.k dk
ifjp;

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

bdkbZ 4 oscj;u fl)kar

bdkbZ dh :ijs[kk

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक स्तरीकरण और वेबर

4.2.1 वर्ग और जीवन अवसर

4.2.2 हैसियत या प्रस्थिति

4.2.3 सत्ता

4.3 मार्क्स और वेबर में समानताएं और अंतर

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4-0 mís';

इस इकाई में समाजशास्त्र के संस्थापक कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के विचारों पर चर्चा की जाएगी। इन दोनों दार्शनिकों ने समाजशास्त्रीय चिंतन में बड़ा ही सार्थक योगदान किया है। मगर यहां हम उनके योगदान के एक ही पक्ष सामाजिक स्तरीकरण पर अपनी चर्चा केन्द्रित करेंगे। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप समझेंगे कि:

- समाज में वर्ग किस तरह से उभरते हैं;
- वर्ग निर्माण के आधार को समझ पाएंगे; .
- सामाजिक स्तरीकरण में वर्गों की भूमिका; और
- वर्गों को लेकर मार्क्स और वेबर के बीच समानताओं और मतांतरों को जान पाएंगे।

4-1 çLrkouk

मैक्स वेबर (1864–1920) एक और अद्वितीय दार्शनिक रहे हैं। कार्ल मार्क्स की तरह वेबर ने भी बुनियादी आर्थिक पहलुओं के महत्व को माना था। मार्क्स ने अपना ध्यान मुख्य रूप से श्रमिक वर्गों पर लगाया और सामाजिक विकास को उन्हीं की नज़र से देखा था। मगर वेबर ने अपने दर्शन में सामाजिक विकास में संपत्ति–संपन्न वर्गों की भूमिका को महत्व दिया था, इसीलिए वेबर को बुर्जुई मार्क्स कहा जाता है। इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण पर वेबर के विचारों पर चर्चा करेंगे। इसके बाद हम सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था को समझने में वर्ग के विश्लेषण के महत्व पर चर्चा करेंगे।

4-2 lkekftd Lrjhdj.k vkj oscj

जैसा कि हमने शुरू में जिक्र किया है, मैक्स वेबर को समाजशास्त्र के संस्थापकों के रूप में जाना जाता है। वे समाज के मार्क्सवादी सिद्धांत के सबसे शक्तिशाली विकल्प के जनक माने जाते हैं। इकाई के इस भाग में हम वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों पर उनके विचारों पर चर्चा करेंगे। मार्क्स की तरह वेबर का भी मानना था कि वर्ग ही समाज में स्तरीकरण का बुनियादी रूप है। उन्होंने वर्ग की व्याख्या मार्क्सवादी कसौटी मुख्यतः संपत्ति के स्वामित्व के रूप में की। उनके अनुसार इस की बुनियादी श्रेणियां हैं। उन्होंने संपत्ति–स्वामित्व और उत्पादों व सेवाओं की स्वामित्वहीनता के जितने प्रकार होते हैं, उनमें भेद दर्शाया। जो लोग संपत्ति के स्वामी होते हैं वे उत्पादन या वस्तुएं देते हैं, लेकिन जिन लोगों के पास कोई संपत्ति नहीं होती वे सिर्फ अपनी श्रम शक्ति या प्रवीणता ही पेश कर सकते हैं। इस प्रकार कारखाने का मालिक अपने कारखाने में बनने वाले माल की पेशकश कर सकता है मगर दूसरी ओर उसके मजदूर पारिश्रमिक के बदले में सिर्फ अपनी श्रमशक्ति ही दे सकते हैं।

4-2-1 oxl vkj thou&volj

वेबर ने वर्ग के एक अन्य पहलू को महत्व दिया है। वह है जीवन–अवसर। इस शब्द का अर्थ उन अवसरों से है जो किसी व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में मिलते हैं। एक श्रमिक के परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति को एक खास किस्म की शिक्षा मिलती है, जो उसे विशिष्ट कार्यों के लिए सक्षम बनाती है। यह शिक्षा उतनी महंगी या गहरी नहीं होगी जो उच्च वर्गीय परिवार में जन्में बच्चे को मिलती है। इसलिए रोजगार के अवसर दोनों के लिए एक दूसरे से अलग–अलग होंगे। उनकी भिन्न पारिवारिक पृष्ठभूमि भी उन्हें भिन्न वर्गों का हिस्सा बनाती है। ठीक यही पैटर्न हमें उनके सामाजिक व्यवहार और विवाह में मिलता है। श्रमिक वर्ग की पृष्ठिभूमि का व्यक्ति अधिकतर अपने वर्ग के अन्य सदस्यों से ही परस्पर व्यवहार करता है, जबकि उच्च मध्यम वर्ग की पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति के परिचित, मित्र अपने वर्ग के ही लोग होंगे। इस प्रकार वेबर के अनुसार जीवन–अवसर वर्ग–निर्माण का एक महत्वपूर्ण पहलु हैं।

c,Dl 4-02

जीवन–अवसरों का विवेचन करते समय वेबर ने व्यक्ति के बजाए समूह या समुदाय पर बल दिया था। उनका कहना था कि वर्ग का निर्धारण करते समय हमें समूह के जीवन–अवसरों को देखना होगा न कि समूह के भीतर अलग–अलग व्यक्तियों के जीवन अवसरों को देखना होगा। एक समूह के रूप में वर्ग का यह अति महत्वपूर्ण पहलू है। यह संभव है कि एक व्यक्ति के जीवन–अवसर दूसरों से बिल्कुल भिन्न हों। उदाहरण के लिए, किसी कामगार का बच्चा अपने वर्ग के अवरोधों को पार कर सकता है। उसे बेहतर शिक्षा और ऐसा रोजगार मिल सकता है जो उसके संगी–साथियों को प्राप्त अवसरों से भिन्न हो।

एक उद्योगपति का बेटा अपनी योग्यता या अन्य स्थितियों के चलते श्रमिक बन सकता है। मगर ऐसा अपवाद स्वरूप ही होता है। उनके विचार में महत्वपूर्ण बात यह है कि एक ही वर्ग के सदस्यों के लिए जीवन–अवसर समान होते हैं। यही उस वर्ग को

स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि आगे की पीढ़ी के अनुसार जीवन–अवसरों की परिभाषा उपलब्ध आर्थिक और सांस्कृतिक वस्तुओं को आपस में बांटना है जो भिन्न समूहों को भिन्न–भिन्न तरीके से सुलभ हैं।

किसी व्यक्ति के सुलभ होने वाले जीवन–अवसर मोटे तौर पर बाजार स्थिति से तय होते हैं। एक श्रमिक का बेटा श्रमिक ही बनता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि के अनुसार यही उसके लिए सबसे उपयुक्त विकल्प है। संपत्तिहीन लोगों के लिए बाजार–स्थिति और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि उन्हें मुख्यतः सेवाओं के उत्पादन पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिसका कारण यह है कि उनके पास सिर्फ अपनी प्रवीणता होती हैं, अपने अस्तित्व के लिए उनके पास अपनी प्रवीणता को बेचने के अलावा कुछ भी नहीं होता। मगर वहीं संपत्ति के स्वामी अपनी उत्पादक संपत्ति से होने वाली आमदनी पर आश्रित रह सकते हैं।

इस प्रकार वेबर के अनुसार वर्ग के दो बुनियादी पहलू हैं। पहला यह एक वस्तुगत श्रेणी है। उत्पादक संपत्ति पर सदस्यों के अधिकार एक विशेष वर्ग के सभी सदस्यों को समान जीवन–अवसरों से अलग करते हैं। व्यक्तियों के जीवन अवसर उन लोगों के लिए बाजार–स्थिति पर निर्भर करते हैं जो उत्पादक संपत्ति के स्वामी नहीं हैं। जिन लोगों के पास ऐसी संपत्ति है उनके जीवन–अवसर उत्पादकता के स्वामित्व से तय होते हैं।

अपनी इस परिभाषा के आधार पर वेबर ने पूंजीवादी समाज को चार वर्गों में बांटा है। ये इस प्रकार हैंः (i) उच्च वर्ग, जिसमें वे लोग आते हैं, जिनके स्वामित्व या अधिकार में उत्पादक संपत्ति है। यह वर्ग मार्क्स के बुर्जुवा (पूंजीवादी वर्ग) के समान है। (ii) सफेदपोश श्रमिक (व्हाइट कॉलर वर्कर्स)ः इस वर्ग में मानसिक श्रम करने वाले लोग शामिल हैं–प्रबंधक, प्रशासक, पेशेवर (प्रोफेशनल) इत्यादि लोग। (iii) टटपुंजिया या छोटा बुर्जुवाः इस वर्ग में स्वरोजगार में लगे लोग आते हैं जैसे दुकानदार छोटे व्यापारी, डॉक्टर, वकील इत्यादि। (iv) शारीरिक श्रमिकों का वर्ग–ये लोग दिहाड़ी या वेतन के बदले में अपना . शारीरिक श्रम बेचते हैं। श्रमिक वर्ग को वेबर ने इसी वर्ग में शामिल किया है। इस प्रकार वेबर ने मार्क्स के दो–वर्गीय मॉडल के विपरीत समाज को चार वर्गों में विभाजित किया। हालांकि वेबर ने वर्ग संरचना का जो आधार ढूंढा वह मार्क्स के जैसा ही था, मगर समाज में वर्गों के प्रकार को लेकर उनका नजरिया मार्क्स से भिन्न था।

4-2-2 ifLFkfr ;k gfl ;r

मार्क्स की तरह वेबर ने भी वर्ग और वर्ग चेतना में भेद किया था। जैसा कि हमने पीछे बताया है, मार्क्स के लिए वर्ग–चेतना वर्ग का एक महत्वपूर्ण पहलू था। कोई वर्ग अगर यह जानता है कि वह एक विशिष्ट वर्ग है तो वह अपने हितों की पैरवी कर सकता है। वेबर ने भी वर्ग–चेतना की बात तो की है मगर वह वर्ग के अस्तित्व के लिए इसे जरूरी नहीं मानते। बल्कि इसके बजाए वह वर्ग–चेतना का विकल्प प्रस्थिति या हैसियत में ढूंढते हैं। वेबर का मानना था कि एक व्यक्ति की वर्ग–प्रस्थिति जरूरी नहीं कि उसे वर्ग–चेतन बनाए, मगर वह अपनी हैसियत, अपनी प्रस्थिति के बारे में पहले से चेतन रहता है।

vH;kl 2

अपने अध्ययन केन्द्र में सहपाठियों से चर्चा कीजिए कि प्रस्थिति/हैसियत का क्या मतलब है। क्या उनकी धारणाएं प्रस्थिति पर वेबर के दृष्टिकोण से मेल खाती हैं? अपनी जानकारी को नोटबुक में दर्ज कर लीजिए।

वेबर के अनुसार वर्गों की रचना आर्थिक संबंधों के आधार पर होती है, उनके अनुसार प्रस्थिति (स्टेटस) समूह साधारणतया समुदाय' होते हैं। वेबर ने प्रस्थिति को समाज में व्यक्ति को हासिल प्रस्थिति के रूप में की है जो 'प्रतिष्ठा' के सामाजिक मूल्यांकन से निर्धारित होती है। वर्ग और हैसियत परस्पर जुड़े होते हैं मगर कई स्थितियों में ये एक–दूसरे के विरोध में जा खड़े होते हैं। वर्ग का संबंध वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन या उनके अर्जन से है। हैसियत या प्रस्थिति उपभोग से तय होती है। इस प्रकार हैसियत का संबंध जीवन–शैली से है, जिसमें सामाजिक सहवास पर अंकुश लगे हों। वेबर का कहना था कि सबसे कठोर और सु–परिभाषित स्थितिमत सीमाएं हम भारत की वर्ण–व्यवस्था में देख सकते हैं। एक ब्राह्मण का संबंध श्रमिक वर्ग से हो सकता है, क्योंकि यह उसकी आजीविका का माध्यम है। मगर वहीं वह अपने आपको छोटी जाति के व्यक्ति से श्रेष्ठ समझता है। हालांकि दोनों की वर्ग–प्रस्थिति समान होगी। यही नहीं इस ब्राह्मण श्रमिक का अपने से उच्च वर्ग के ब्राह्मणों से सामाजिक व्यवहार काफी ज्यादा हो सकता है। भारतीय समाज में अंतरजातीय विवाह को स्वीकार नहीं किया जाता है। हालांकि दोनों परिवार एक वर्ग के होंगे मगर वर्ण क्रम–परंपरा में उनकी हैसियत एक–दूसरे से भिन्न होगी।

वेबर के अनुसार एक स्तरित समाज में संपत्ति में अंतर वर्गों को जन्म देते हैं, वहीं प्रतिष्ठा संबंधी भेद स्थिति समूहों को जन्म देते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य दो आधार हैं।

1-3-3 lÙkk

सामाजिक–प्रस्थिति और संपदा को हम समाज में श्रेणी–निर्धारण के आधार समूह विशेषताओं से स्पष्ट रूप से जोड़ सकते हैं। लेकिन इन दोनों के विपरीत सत्ता का सिद्धांत अपेक्षतया एक विसारित या बिखरा हुआ गुण है। इसकी वजह यह है कि इसकी प्रकृति अनूठी नहीं है। समाज में उच्च प्रस्थिति वाला समूह या फिर ऐसा समूह जिसके पास संपदा अधिक हो उसके लिए समाज में सत्ता का प्रयोग करना हमेशा संभव रहता है। फिर भी हम इसे विशेषाधिकारों के सिद्धांत से अलग करके देख सकते हैं क्योंकि विशेषाधिकार का सिद्धांत सामाजिक समूह की इस सामर्थ्य पर आधारित है कि वह किस तरह अन्य समूहों को उन कार्यों, मूल्यों और विश्वासों को मानने के लिए बाध्य करता है, जिन्हें तय भी वही करता है। सामाजिक स्तरीकरण की अपनी व्याख्या में जैसा कि मैक्स वेबर कहते हैं सत्ता की अवधारणा इस तथ्य पर आधारित है कि यह उन व्यक्तियों या समूहों को जायज बल प्रयोग करके अपनी इच्छा अन्य समूहों पर थोपने की शक्ति प्रदान करता है। इस अर्थ में राज्य हमारे सामने एक ऐसी संस्था का उत्तम उदाहरण है, जो सर्वाधिक शक्ति या सत्ता रखता है। राज्य को समाज के नागरिकों पर अपनी इच्छा थोपने का परम अधिकार रहता है। शक्ति या सत्ता प्रयोग की वैधता को समूह व्यापक स्तर पर स्वीकार कर लेते हैं, या यूं कहें कि जब यह समाज में संस्थागत बन जाता है तो शक्ति प्रभुत्व में तब्दील हो जाती है। प्रभुत्व को हम वैध शक्ति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। यह शक्ति या सत्ता का

सिद्धांत सामाजिक स्तरीकरण की धारणा में भी प्रवेश कर लेता है जब इसके कार्य या सामाजिक फलितार्थों को समाज में चल रही राजनीतिक प्रक्रियाएं प्रभावित करने लगती हैं या फिर राज्य सामाजिक स्तरीकरण को प्रभावित करने में अधिक सक्रिय या प्रत्यक्ष भूमिका अपना लेता है। इसका एक प्रासंगिक उदाहरण हमें सकारात्मक भेदभाव या आरक्षण नीति में मिलता है। इस नीति के तहत भारतीय राज्य ने अनुसूचित जातियों, जनजातियों और पिछड़ी जातियों को सरकारी नौकरियों, राजनीतिक पदों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण दिया है। सामाजिक स्तरीकरण में एक तत्व के रूप में सत्ता की व्याख्या में मैक्स वेबर ने पार्टियों और सत्ता तक अपनी पहुंच को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने में राजनीति, राजनीतिक दलों और उनकी भूमिका को सही आंका है।

4-3 ekDl vkj oscj e lekurk,a vkj varj

उपरोक्त चर्चा से हमें स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के इन दोनों धुरंधर विद्वानों के सामाजिक स्तरीकरण के मत में कुछ समानताएं हैं, मगर वहीं दोनों में बड़े मतभेद भी हैं। मार्क्स के लिए सामाजिक स्तरीकरण का आधार वर्ग है। वर्ग की रचना इस अर्थ में वस्तुनिष्ठ होती है कि वर्ग का निर्माण महज इसलिए नहीं हो जाता है कि लोगों का एक समूह इकट्ठा होकर वर्ग बनाने का फैसला कर

लेते हैं, बल्कि वर्ग का निर्माण समाज में प्रचलित उत्पादन संबंधों के कारण होता. है। इसलिए वर्गीय ढांचे में किसी व्यक्ति को प्राप्त स्थान उत्पादन संबंधों में उसकी स्थिति पर आधारित होता है। अगर उसके पास पूंजी है या वह पूंजी पर अधिकार रखता है और दूसरे लोगों से काम लेता है तो वह . पूंजीवादी है। जिन लोगों के पास संपत्ति नहीं होती वे उसके विरोधी श्रमिक वर्ग की रचना करते हैं। मार्क्स के विश्लेषण का महत्वपूर्ण पहलू वर्गों का परस्पर विरोध है। इसी विरोध के फलस्वरूप ही सामाजिक और आर्थिक बदलाव होता है। श्रमिकों के जवाब में पूंजीवादी नित नई तरकीबें ढूंढ निकालते हैं। जैसे वे नई प्रौद्योगिकी ला सकते हैं जिसके फलस्वरूप उत्पादन तकनीक उन्नत हो जाती हैं या श्रमिकों को शक्तिशाली बनने से रोकने के लिए वे नए कानून ला सकते हैं।

मगर श्रमिक भी अपने संघर्ष में उतना ही अधिक संगठित रहते हैं। वे जब देखते हैं कि उनका मुख्य शत्रु कोई अन्य वर्ग का है तो वे आपसी मतभेद भुला देते हैं। इससे उनमें व्यापक एकता आती है। इस प्रकार मार्क्स के मत में वर्ग और वर्ग–चेतना समाज की श्रेणियां मात्र नहीं हैं। ये सामाजिक विकास की बुनियाद हैं।

एक स्तर पर वेबर भी मार्क्स की वर्गीय धारणा से सहमति रखते हैं। मगर ऐसा वह मार्क्स का समर्थन करने के लिए नहीं बल्कि उनके मत की कमजोरियाँ निकालने के लिए करते हैं। वह जोर देकर कहते हैं कि समाज को सिर्फ दो मुख्य वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता है, बल्कि समाज इनसे ज्यादा वर्गों में बंटा होता है जिनका उदय बाजार स्थिति और व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कार्य की किस्म से होता है। इसलिए उनके अनुसार समाज में मुख्य चार वर्ग होते हैं। उनके अनुसार इससे वर्ग संबंधों को लेकर भ्रम की स्थिति पैदा होती है। इसलिए वेबर कहते हैं कि न तो वर्ग और न ही वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण की पूर्ण व्याख्या कर सकते हैं। अतः वह स्थिति या हैसियत ('स्टैटस') पर अधिक बल देते हैं जबकि मार्क्स वर्ग–चेतना को अधिक महत्व देते हैं। वेबर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वर्ग चेतना सामाजिक स्तरीकरण के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। उनके विचार में इसका आधार स्थिति

समूह हैं। उनके अनुसार वर्ग स्थिर और गतिहीन होते हैं जबकि स्थिति (स्टैटस) सभी वर्गों की दूरी को मिटा देती है।

दोनों दार्शनिकों की तुलना करते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि वेबर मार्क्स के विचारों के विरोधी थे। उन्होंने मार्क्स का विकल्प देने का प्रयास किया। सो दोनों दार्शनिकों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वेबर का कार्य मार्क्स के कार्य का पूरक, उसकी कड़ी नहीं है (जिस प्रकार डेविस की स्तरीकरण की अवधारणा पारसंस की अवधारणा की पूरक है, जिसे हम आगे की इकाई में दिखाएंगे)। वेबर ने अपने सिद्धांत को मुख्यतः मार्क्स के विरोध में गढ़ा था। इस लिए दोनों में कुछ समानताएं तो हैं मगर उनका आधार एक–दूसरे से भिन्न है।

cks/k iz'u 1

1) वर्गों और जीवन–अवसरों के बारे में वेबर ने क्या विचार रखे थे? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक स्तरीकरण को लेकर वेबर और मार्क्स के दृष्टिकोण में क्या–क्या समानताएं और अंतर हैं? दस पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

4-4 lkjk'k

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण पर समाजशास्त्र के दो संस्थापकों कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर के दृष्टिकोणों पर चर्चा की। दोनों दार्शनिकों के विचारों ने मानव विकास को बेहद प्रभावित किया है। कार्ल मार्क्स के विचार उनके ऐतिहासिक भौतिकतावाद पर आधारित थे। उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा। उनके अनुसार मानव समाज में होने वाले परिवर्तनों का आधार उत्पादन का बदलता स्वरूप है। वर्ग समाज में स्तरीकरण व्यवस्था का आधार हैं। उत्पादन संबंधों के बदलने पर स्तरीकरण का स्वरूप भी बदल जाता है। इस तरह नए वर्गों ने पुराने वर्गों की जगह ले ली। इसके फलस्वरूप वर्गों के बीच नए संबंध भी बने। इसलिए मार्क्स की दृष्टि में वर्ग और स्तरीकरण समरूप हैं। मार्क्स ने वर्ग–चेतना की भूमिका को वर्ग हितों की साधना के लिए महत्वपूर्ण माना है।

Lrjhdj.k dk ifjp;

दूसरी ओर मैक्स वेबर ने वर्गों के निर्माण को अधिक महत्व दिया। उनके विचार में भी वर्ग का आधार वही था जो मार्क्स ने माना था। मगर वहीं उनका मानना था कि समाज दो के बजाए चार वर्गों में बंटा होता है। वेबर और मार्क्स में यह मतभेद यही नहीं है। वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या के मुख्य आधार के रूप में वर्ग विश्लेषण की कमियों को बताने का प्रयास भी किया। उनका मानना था कि वर्ग से अधिक महत्वपूर्ण प्रस्थिति (स्टेटस') होती है। उनका यह तर्क था कि लोग वर्ग–चैतन्य के बजाए स्थिति–चैतन्य अधिक होते हैं। इसलिए उनका विचार था कि हालांकि वर्ग एक वस्तुनिष्ठ श्रेणी है मगर सामाजिक स्तरीकरण को हम प्रस्थिति/हैसियत की कसौटी पर बेहतर समझ सकते हैं।

4-5 'kCnkoyh

वर्ग : मार्क्स के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन साधनों पर अपने अधिकार या स्वामित्व या उसकी कमी के कारण एक–दूसरे से भिन्न होते हैं। मगर वेबर के अनुसार वर्ग लोगों का समूह है जो उत्पादन स्वामित्व या अधिकार के चलते एक दूसरे से अलग होते हैं और जिन्हें समान जीवन–अवसर प्राप्त होते हैं।

वर्ग–चेतना : एक वर्ग में यह चेतना कि सामाजिक क्रम–परंपरा में उसकी विशिष्ट जगह है।

प्रस्थिति/हैसियत : सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रभावशाली दावा। वेबर ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि स्थिति/हैसियत वर्ग अवरोधों को पार कर लेती है।

4-6 dN mi;kxh iLrd

टी.बी. बोटोमोर और एम रुबेल (संपा.) कार्ल मार्क्सः सेलेक्टेड राइटिंग्स इन सोशियोलाजी ऐंड सोशल फिलॉसफी, पेंग्विन बुक्स, 1963

एच.एच. गर्थ और सी.डब्लू मिल्स (संपा.) फ्रॉम मार्क्स वेबरः एसेज इन सोशियोलॉजी, रौटलेज ऐंड केगर पॉल, 1948

4-7 ck/k ç'uk dk mÙkj

ck/k ç'u 1

1) वेबर ने वर्ग को निजी संपत्ति की कसौटी पर परिभाषित किया मगर उन्होंने वस्तुओं के स्वामित्व और प्रवीणता के स्वामित्व भेद किया। कारखाने का मालिक वस्तुएं देता है लेकिन उसके श्रमिक वेतन के बदले में अपनी श्रम शक्ति दे सकते हैं। वेबर के अनुसार जीवन–अवसरों का मतलब व्यक्ति को अपने जीवन के विभिन्न चरणों में प्राप्त होने वाले अवसर हैं। शिक्षा और पारिवारिक पृष्ठिभूमि जीवन–अवसरों को प्रभावित करते हैं। मगर जोर समूह पर होना चाहिए और ये उन्हें सुधार या बिगाड़ सकते हैं। जीवन–अवसर एक वर्ग विशेष के लिए समान होते हैं पर इसके अपवाद अवश्य देखे जा सकते हैं।

2) सामाजिक स्तरीकरण को लेकर मार्क्स और वेबर में वैचारिक समानता और मतभेद दोनों हैं। मार्क्स के विचार के मूल में उत्पादन साधनों के स्वामित्व पर आधारित वर्ग विरोध है। उनके अनुसार वर्ग और चेतना सामाजिक विकास के लिए आवश्यक हैं। वेबर के अनुसार समाज को सिर्फ दो वर्गों में ही नहीं बांट सकते। बल्कि उनके अनुसार हमारा समाज चार वर्गों में बंटा हैं वेबर स्थिति/हैसियत को तो मार्क्स वर्ग चेतना को अधिक महत्व देते हैं। इस प्रकार दोनों दार्शनिक वर्ग को महत्व तो देते हैं मगर दोनों के विचार समान नहीं हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

bdkbZ 5 çdk;kRed fl)kar

bdkbZ dh :ijs[kk

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धांत

5.3 टैलकॉट पारसंस का नज़रिया

5.3.1 मूल्य मतैक्य और स्तरीकरण

5.4 डेविस–मूर का सिद्धांत

5.4.1 समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं

5.4.2 स्तरीकरण के प्रकार्य

5.4.3 डेविस और मूर का बुनियादी प्रस्थापनाएं

5.5 डेविस–मूर के सिद्धांत की समालोचना

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5-0 mís';

इस इकाई में आपको अमेरिका के दो प्रसिद्ध समाज विज्ञानियों के सामाजिक स्तरीकरण सिद्धांत के बारे में बताएंगे। ये समाजशास्त्री हैं डेविस और विलबर्ट मूर जिनके सिद्धांत को सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धांत कहा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण के लिए इस सिद्धांत को हालांकि समाजशास्त्रियों ने मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया है लेकिन इसकी आलोचना भी खूब होती है। यहां हम इस सिद्धांत के सभी पहलुओं पर दृष्टि डालेंगे। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आपः

- इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि को समझ जाएंगे;
- यह सिद्धांत क्या कहता है, इसे समझ पाएंगे;
- उन समस्याओं को समझ सकेंगे जिनसे इस सिद्धांत के प्रवर्तक को भी खुद जूझना पड़ा था; और
- समाज को समझने में इस सिद्धांत के महत्व को जान सकेंगे।

5-1 çLrkouk

प्रकार्यात्मक सिद्धांत यह बताने का प्रयास करता है कि समाज क्यों जीवित रह पाता है। इस सिद्धांत के मूल में यह धारणा है कि सभी समाज स्थिरता और शांति चाहते

हैं। समाज में लोग अराजकता और भ्रम नहीं चाहते क्योंकि इससे उनके दैनिक क्रियाकलापों में विघ्न पड़ता है। इसीलिए समाज चाहते हैं कि उनमें व्यवस्था और अनुशासन हो। ये समाज में स्थिरता लाने के उपाय हैं।

प्रकार्यवादी समाज को एक जीव के रूप में देखते हैं। इस जीव के अलग–अलग अंग होते हैं। ये अंग एक समग्र इकाई में समेकित होते हैं और ये परस्पर सहयोग से काम करते हैं। मानव शरीर एक जटिल जीव है जिसके शरीर में विभिन्न अंग–प्रत्यंग होते हैं। इसका प्रत्येक अंग एक–दूसरे से अलग होता है मगर वे सभी मिलकर एक समेकित इकाई की रचना करते हैं। इसी प्रकार समाज में भी अलग–अलग अंग होते हैं जो अलग–अलग भूमिका अदा करते हैं। अगर हम समाज की पूरी तस्वीर पर नज़र डालें तो हम देखेंगे कि ये अंग जो भूमिकाएं अदा करते हैं वे समूचे समाज में स्थिरता लाती हैं, दूसरी तरह से कहें तो ये सारी भूमिकाएं समाज को एकता के सूत्र में बांधती हैं। उदाहरण के लिए, हम पाते हैं कि लोग तरह–तरह के पेशों और क्रियाकलापों में लगे हुए हैं। जैसे डॉक्टर, वकील, शिक्षक, छात्र, श्रमिक, उद्योगपति, किसान, जुलाहे इत्यादि। इन लोगों के क्रियाकलाप हालांकि एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, पर समाज सुचारु रूप से चलने के लिए सबकी जरूरत होती है। इन्हें पृथक अंग माना जा सकता है जो समाज के एकीकरण के लिए मिल–जुलकर काम करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रकार्यवादी सिद्धांत के मुताबिक सामाजिक ढांचे का हर घटक विशिष्ट कार्यों को पूरा करता है जो समाज में स्थिरता को कायम रखने के लिए जरूरी हैं। ये कार्य समाज को जीवित रखने के लिए जरूरी हैं। इसलिए समाज की अखंडता और स्थिरता के लिए उसमें स्तरीकरण प्रणाली का होना भी जरूरी है।

5-2 lkekftd Lrjhdj.k dk çdk;okn fl)kr

प्रकार्यवादी सिद्धांतकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि सभी समाज स्तरों में बंटे होते हैं या वे स्तरित रहते हैं। दूसरे शब्दों में, समाज के विभिन्न सदस्य जो कार्य करते हैं वे असल में इसको जीवित रखने के लिए किए जाते हैं। मगर सभी कार्यों को समान दर्जा नहीं दिया जाता। कुछ कार्य अन्य कार्यों से श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए उन्हें ऊंचा दर्जा दिया जाता है। जो लोग इन कार्यों को अंजाम देते हैं उन्हें अन्य लोगों से श्रेष्ठ समझा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत यह समझाने का प्रयत्न करता है कि सामाजिक असमानताएं किस तरह उत्पन्न होती हैं और समाज के लिए वे क्यों जरूरी हैं।

प्रकार्यवादी यह मानकर चलते हैं कि समाज की अपनी कुछ मूलभूत जरूरतें होती हैं। इन जरूरतों की पूर्ति हर हाल में होनी चाहिए। अन्यथा समाज में अस्थिरता उत्पन्न हो जाएगी। इन जरूरतों को प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षा कहा गया है। दूसरा, ये प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं हालांकि महत्वपूर्ण हैं, लेकिन उनका स्थान उन्हें समाज में मिलने वाले महत्व के अनुसार तय होता है उदाहरण के लिए, एक कारखाना चलाने के लिए हमें मजदूर और प्रबंधक दोनों की जरूरत पड़ती है। कोई भी कारखाना सिर्फ मजदूरों की बदौलत या सिर्फ प्रबंधकों की बदौलत नहीं चल सकता है। इसलिए मजदूर और प्रबंधक दोनों उसके अभिन्न, अनिवार्य अंग हैं। मगर यहां यह मानना सरासर गलत होगा कि चूंकि दोनों जरूरी हैं इसलिए दोनों की हैसियत भी बराबर होनी चाहिए। वास्तव में ऐसा नहीं होता। प्रबंधकों को श्रमिकों से ऊंचा दर्जा हासिल होता है इसलिए इस अभिन्नता या अखंडता का मतलब समानता नहीं है। इसका यह मतलब है कि सभी

अलग–अलग समूह मिल जुलकर स्थिरता की दिशा में काम करते हैं। मगर वे इसलिए ऐसा करते हैं क्योंकि वे एक क्रम परंपरा में स्तरित रहते हैं। इस क्रम परंपरा का आधार क्या है और आखिर क्यों लोग इसे स्वीकार कर लेते हैं? प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों ने इन प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया है। अब हम प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों में सबसे ख्यातनाम टैलकॉट पारसंस के विचारों को जानेंगे।

5-3 Vyd,V ikjlal dk utfj;k

पारसंस के सामाजिक प्रणालियों के विश्लेषण का केन्द्र बिन्दु व्यवस्था का प्रश्न है। उनका मानना था कि सभी सामाजिक प्रणालियां इसलिए उत्पन्न हुई कि इन प्रणालियों में विद्यमान लोग व्यवस्था और स्थिरता चाहते थे। पारसंस के अनुसार सामाजिक प्रणाली तब उत्पन्न होती है जब दो या अधिक लोग बंधन की स्थिति में परस्पर व्यवहार करते हैं और उनके कार्य दूसरों को प्रभावित करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि सामाजिक प्रणाली में सबसे पहले लोगों का समूह होना चाहिए। यह समूह दो व्यक्तियों का या देश भी हो सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि ये लोग एक साझी सीमा के भीतर विद्यमान रहते हैं। तीसरा, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करते हैं। अंततः उनके कार्य एक–दूसरे के आचरण को प्रभावित करते हैं।

इस तरह की क्रिया को हम अपने दैनिक जीवन में देख सकते हैं। अपने दैनिक जीवन में हम कई लोगों से मिलते–जुलते हैं। ऐसा करते समय हम उस व्यक्ति से प्रभावित होते हैं जिससे हम व्यवहार करते हैं। उदाहरण के लिए, आप जब अपने पिता या किसी बुजुर्ग से बात कर रहे हों तो उस समय आप एक खास तरह से आचरण करते हैं। जब आप अपने दोस्तों और साथियों से बातचीत करते हैं तो आपका आचरण भिन्न होता है। आप ऐसा क्यों करते हैं? सभी लोगों के साथ पारस्परिक व्यवहार करते समय आपको आचरण एक समान क्यों नहीं होता? पारसंस के अनसार ऐसा इसलिए होता है कि आप जब किसी व्यक्ति के साथ परस्पर व्यवहार करते हैं तो आपका कार्य (आचरण) इस व्यक्ति के कार्यों से प्रभावित होता है।

यह आपको भिन्न–भिन्न स्थितियों में अपना व्यवहार बदलने या उनके अनुकूल ढालने के लिए बाध्य करता है।

> vH;kl
>
> अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य छात्रों के साथ समाज में व्यवस्था के प्रश्न पर चर्चा कीजिए। अपनी जानकारी को नोटबुक में लिख लीजिए।

विभिन्न स्थितियों में आपके आचरण का नियमन मुख्यतः इसलिए होता है कि एक व्यक्ति के रूप में आप एक निश्चित तरीके से आचरण करते हैं क्योंकि इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति उसी तरह से व्यवहार करता है। फिर आप यह भी जानते हैं कि यदि आप निर्दिष्ट तरीके या तहजीब से व्यवहार नहीं करते तो इससे अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणतः अगर आप अपने किसी मित्र से रुखे और अशिष्ट ढंग से पेश आते हैं जैसे कि वह आपका दुश्मन हो, तो आपके इस व्यवहार से वैमनष्य की स्थिति पैदा हो जाएगी और हो सकता है आप उसकी मित्रता से हाथ धो बैठे। इसीलिए आप उससे वैसा ही बर्ताव करेंगे जिसकी आप से अपेक्षा की जाती है।

इसलिए हम यह मान सकते हैं कि किसी भी व्यक्ति का कार्य इससे निर्धारित होता है कि वह किससे पारस्परिक–व्यवहार कर रहा है। बदले में यह समाज या सामाजिक प्रणाली विशेष के आचरण नियमों से तय होता है। आचरण के नियम लोगों की आम सहमति पर आधारित होते हैं। और यही वजह है कि इन्हें सही और शिष्ट माना जाता है। इसी आम सहमति को पारसंस मूल्य कहते हैं। इसलिए सामाजिक मूल्य एक समाज के साझे विश्वास हैं। इन मूल्यों को जिस तरह से व्यवहार में लाया जाता है (इन मूल्यों के फलस्वरूप किए जाने वाले कार्य), जिन्हें आदर्श या प्रतिमान कहा जाता है। इस प्रकार सामाजिक प्रतिमान व्यवहार के नियम हैं।

पारसंस कहते हैं कि सामाजिक मूल्य और प्रतिमान प्रत्येक समाज की व्यवस्था और स्थिरता को बनाए रखने की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं। मूल्य और प्रतिमान हर समाज में अलग होते हैं क्योंकि प्रत्येक समाज की जरूरतें अलग होती हैं। मगर हर समाज की मूल्य व्यवस्था में उभय कारक स्थिरता की आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक समाज अपने मूल्यों को ईजाद करता है जो उसके इस उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह से करते हैं।

5-3-1 eY; erD; vkj Lrjhdj.k

किसी समाज की मूल्य व्यवस्था किस तरह उभरती है? इस प्रश्न के उत्तर में पारसंस जोर देकर कहते हैं कि मूल्य किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से जन्म नहीं लेते (जैसा कि आरंभिक काल में राजा या पुजारी के बारे में माना जाता था)। मूल्य साझे विश्वास हैं। इसका यही मतलब है कि समाज के सभी सदस्य यह मान कर चलते हैं कि ये प्रदत्त मूल्य ही सबसे उत्तम युक्ति हैं जिसके जरिए उनके समाज में स्थिरता कायम रखी जा सकती है। इस तरह मूल्य सिर्फ साझे विश्वास ही नहीं हैं, बल्कि वे समाज के सदस्यों की सहमति से उत्पन्न होते हैं। यह सहमति या मतैक्य इसलिए उत्पन्न होता है कि समाज के सदस्य अपने रोजाना के जीवन में व्यवस्था और स्थिरता चाहते हैं। इसलिए व्यवस्था, स्थिरता और सहयोग इस मूल्य मतैक्य पर निर्भर करते हैं। समाज के सदस्यों में यह सहमति होती है कि सभी के लिए क्या अच्छा है।

c,Dl 5-01

पारसंस तर्क देते हैं कि मूल्यों की उपस्थिति से यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्तियों का मूल्यांकन होता है और फिर उन्हें एक तरह के श्रेणी क्रम में रखा जाता है। इसलिए समाज में विभिन्न स्तर क्रम परंपरा पर आधारित होते हैं जो वास्तव में उसकी स्तरीकरण प्रणाली ही होती है। पारसंस कहते हैं कि "स्तरीकरण सामाजिक प्रणाली में साझी मूल्य व्यवस्था के अनुसार इकाइयों का श्रेणीकरण है।'' मूल्य व्यवस्था ही समाज में स्तरीकरण को जन्म देती है। स्तरों में भेदों को भी मूल्य व्यवस्था ही सही ठहराती है।

किसी भी समाज में जो लोग सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्यों को अंजाम देते हैं या आचरण करते हैं, उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। पारसंस के अनुसार इन पारितोषिकों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के मूल्य किसे सर्वश्रेष्ठ ठहराते हैं। उदाहरण के लिए, राजपूतों में साहस और वीरता को अधिक महत्व देने की परंपरा रही है। इसलिए जो भी व्यक्ति इन गुणों में खरा उतरता था उसे बेहतर पुरस्कार और ऊंचा दर्जा दिया जाता था। अन्य समुदायों में व्यापार में

प्रवीणता और व्यापार में मुनाफा कमाने की क्षमता को अधिक महत्व दिया जा सकता है। इसलिए इन क्षेत्रों में अपने को सिद्ध करने वाले लोगों को ऊंचा दर्जा दिया जा सकता है। इसी प्रकार सभी सामाजिक प्रणालियों में मूल्य व्यवस्था कुछ गुणों पर ऊंचे पारितोषिक तो अन्य गुणों पर कम पारितोषिक देती है। मगर कोई व्यक्ति अगर इन सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करता है तो उसे दंड दिया जाता है। इसलिए जिस समाज में वीरता को अधिक महत्व दिया जाता है, उसमें कायरता के लक्षण दिखाने वाला व्यक्ति श्रेणीक्रम में अपना स्थान खो बैठता है।

पारसंस के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाज में व्यक्ति की निजी उपलब्धियों को उच्च मान दिया जाता है। इस तरह के समाज में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाता है। इसलिए पारसंस कहते हैं कि इन समाजों, विशेषकर अमेरिका, में मूल्य व्यवस्था "अर्थव्यवस्था के भीतर उत्पादक क्रियाकलापों को प्रमुखता" देती है। इसलिए जो लोग इनमें प्रवीण होते हैं उन्हें बेहतर पारितोषिक दिया जाता है। ऐसे समाज में एक श्रमिक में अगर आवश्यक गुण विद्यमान हैं तो वह भी एक सफल उद्योगपति बन सकता है। एक बार वह अपनी मेधा, अपनी योग्यता का सिक्का जमा लेता है तो सामाजिक प्रणाली में उसका रुतबा ऊंचा हो जाता है और उसे प्रतिष्ठा भी खूब मिलती है। इसी प्रकार कंपनियों में जो अधिकारी ओजस्वी और सफल होते हैं उन्हें वेतन और अन्य लाभों के रूप में अधिक पारितोषिक मिलते हैं। इससे स्तरीकरण प्रणाली में उनका स्थान ऊंचा हो जाता है।

cks/k iz'u 1

1) प्रकार्यवादी सिद्धांत के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मूल्य मतैक्य किसे कहते हैं और सामाजिक स्तरीकरण में इसकी क्या भूमिका है? पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करते हुए पारसंस ने लोगों में मौजूद भेदों, विषमताओं को महत्ता दी। उनका कहना था कि ये विषमताएं समाज की मूल्य व्यवस्था के संगत होती हैं और इसलिए ये समाज की स्थिरता के लिए अनिवार्य होती हैं। अब चूंकि समाज की मूल्य व्यवस्था असमानताओं को सही ठहराती है इसलिए व्यवहार में निम्न श्रेणी क्रम में विद्यमान लोगों समेत सभी लोग

इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, औद्योगिक संगठनों में विस्तृत स्तरीकरण प्रणालियां विद्यमान होती हैं। प्रवीणताओं और अनुभव के आधार पर श्रमिकों में भी भेद पाए जाते हैं। जो श्रमिक अपने कार्य में प्रवीण होते हैं और जिनमें नेतृत्व के गुण मौजूद होते हैं, उन्हें पदोन्नति, वेतन में वृद्धि इत्यादि देकर पुरस्कृत किया जाता है। इसी प्रकार श्रम और प्रबंध दोनों किसी औद्योगिक संगठन को चलाने के लिए हालांकि जरूरी हैं लेकिन प्रबंधक का दर्जा उसमें हमेशा श्रमिकों से ऊंचा रहता है। इन विषमताओं के कारण दोनों में संघर्ष भी होता है मगर चूंकि इन विषमताओं के मूल में मूल्य व्यवस्था का हाथ होता है इसलिए इन मुद्दों पर गहरे संघर्ष के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। एक कट्टरपंथी मजदूर संघ भी यह बात स्वीकार करता है कि प्रबंधन का दर्जा ऊंचा होता है। ऐसा इस कारण होता है मूल्य व्यवस्था इन विषमताओं को स्वीकार करती है। इसलिए पारसंस तर्क देते हैं कि लोग अमूमन इन विषमताओं को स्वीकार करते हैं और इस तरह बड़ा संघर्ष होने से रुक जाता है। सभी लोग चाहे वे श्रमिक हों या प्रबंधन में हों, मानते हैं कि यह व्यवस्था सबसे उत्तम है। अगर इन मूल्यों को चुनौती दी गई तो समाज में स्थिरता उत्पन्न हो जाएगी।

पारसंस के सिद्धांत का सार हम इस प्रकार दे सकते हैं :

- मूल्य मतैक्य सभी समाजों का अनिवार्य अंग है।
- सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में अपरिहार्य है।
- समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने के लिए स्तरीकरण प्रणाली को न्यायोचित, सही और उचित माना जाता है। इससे भिन्न–भिन्न लोगों को भिन्न–भिन्न पारितोषिक मिलता है।
- जिन लोगों को पुरस्कृत किया जाता है और जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया जाता है, उनके बीच संघर्ष हो सकता है। मगर इससे मौजूद प्रणाली को कोई बड़ा खतरा पैदा नहीं होता क्योंकि मूल्य व्यवस्था इस द्वंद्व को रोके रखती है।

5-4 Mfol vkj ejdk fl)kr

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यवादी सिद्धांत को किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर ने और विकसित किया। ये दोनों अमेरिका के ख्यातनाम समाजशास्त्री हैं और टैलकॉट पारसंस के शिष्य रह चुके हैं। इन दोनों समाजशास्त्रियों ने अपने विचार एक लेख में विस्तार से प्रस्तुत किए थे, जिसका शीर्षक थाः "सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रैटिफिकेशन'' (स्तरीकरण के कुछ सिद्धांत)। यह लेख जितना लोकप्रिय हुआ इसकी आलोचना भी उतनी ही हुई। जहां प्रकार्यवादी सिद्धांतकारों ने उनके विचारों का समर्थन किया तो वहीं अन्य समाजशास्त्रियों ने उनकी कटु आलोचना की। उनके विचारों को असमानता का प्रकार्यवादी सिद्धांत का नाम भी दिया जाता है। आइए पहले हम उनकी प्रस्थापनाओं पर चर्चा करेंगे और उसके बाद हम इनकी आलोचना पर दृष्टि डालेंगे।

पारसंस ने समाज में स्तरीकरण की जरूरत पर जोर दिया था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हर समाज में यह स्तरीकरण अपरिहार्य होता है। डेविस और मूर ने इस प्रस्थापना को विस्तार दिया और यह जानने का प्रयास किया कि समाज में स्तरीकरण किस तरह प्रभावी होता है। उन्होंने सबसे बड़ा प्रश्न यह रखा कि कुछ स्थानों की प्रतिष्ठा अलग–अलग क्यों होती है? व्यक्तियों को ये स्थान कैसे मिलते हैं?

5-4-1 lekt dh çdk;kRed iokiz{kk,

दोनों लेखक पारसंस के इस विचार का समर्थन करते हैं कि समाजों के वजूद, उनके अस्तित्व का आधार व्यवस्था और स्थिरता हैं। हर समाज की अपनी प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं होती हैं जो उन्हें जीवित रहने और सुचारु रूप से चलने में सहायक होती हैं। आइए, इस बात को आगे बढ़ाते हैं। समाज व्यक्तियों का समूह, उनका जमावड़ा भर नहीं होता। इन व्यक्तियों को निर्दिष्ट कार्य पूरे करने होते हैं ताकि समाज की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। इसलिए समाज में अनेक क्रियाकलाप चलते हैं। समाज को श्रमिकों, उद्योगपतियों, प्रबंधकों, पुलिसकर्मियों, शिक्षकों, विद्यार्थियों, दस्तकारों इत्यादि की जरूरत पड़ती है। विशिष्ट प्रवीणता रखने वाले विभिन्न लोग इन अलग–अलग कार्यों को अंजाम देते हैं। इसलिए किसी भी समाज की पहली प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षा इन भिन्न–भिन्न भूमिकाओं का प्रभावशाली ढंग से वितरण है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि सही जगह सही लोग स्थित हों।

उपरोक्त प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षा के चार पहलू हैं। पहला, समाज में सारी भूमिकाएं पूरी की जानी होती हैं। सभी समाजों में अलग–अलग किस्म के पेशे, व्यवसाय चलते हैं। उनके अस्तित्व के लिए ये व्यवसाय अनिवार्य हैं। इसलिए इन व्यवसायों को भी पूरा किया जाना उतना ही जरूरी है। मगर वहीं इन व्यवसायों का किया जाना ही पर्याप्त नहीं है। अगर निश्चित कार्यों के लिए ऐसे गलत लोग चुन लिए जाते हैं जिनमें इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए अनिवार्य प्रवीणता नहीं है तो इससे समाज में अस्थिरता उत्पन्न होगी। विशेषकर तब अगर ये स्थान महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, बिजली का उत्पादन करने वाली कोई कंपनी अगर एक ऐसे विख्यात उपन्यासकार को नौकरी पर रख लेती है जिसे विद्युत उत्पादन की कोई जानकारी नहीं है, तो इससे कंपनी का काम प्रभावित होगा। इससे कंपनी में सिर्फ अस्थिरता ही नहीं आएगी बल्कि बिजली की आपूर्ति में भी अस्थिरता आ जाएगी। इसलिए प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इन स्थानों को सबसे योग्य और सक्षम व्यक्तियों से भरना चाहिए। तीसरा, निर्दिष्ट कार्य के लिए सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति ही चुने जाएं। इसके लिए जरूरी है कि उन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाए। हर कार्य के लिए सबसे उत्तम व्यक्ति चुना जाए, इसे सुनिश्चित करने का सबसे प्रभावशाली उपाय प्रशिक्षण है जैसा कि हमने पीछे उदाहरण दिया है। अगर उस उपन्यासकार को विद्युत उत्पादन कंपनी का सर्वेसर्वा बनाने से पहले अगर उसे इस पद की जरूरतों, जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षण मिला हो तो उसे इस पद के लिए सबसे उत्तम व्यक्ति माना जाएगा। अंततः भूमिकाओं का निर्वाह कर्तव्यनिष्ठा से होना चाहिए। भूमिकाओं के प्रभावी निर्वाह को सुनिश्चित करने के लिए यह अत्यावश्यक है। कोई व्यक्ति प्रशिक्षित, दक्ष और अपने कार्य में श्रेष्ठ हो सकता है, मगर वह अपना कार्य पूरे समर्पण और निष्ठा से नहीं करता तो इससे पूरी व्यवस्था को क्षति पहुंचेगी। इसलिए समाज की प्रकार्यात्मक पूर्वाक्षेपाओं की पूर्ति के लिए ये चारों कारक अनिवार्य है।

5-4-2 Lrjhdj.k dh çdz;k

डेविस और मूर कहते हैं कि विभिन्न पदों पर सबसे उत्तम व्यक्ति चुने जाएं और वे अच्छा काम करें, यह सुनिश्चित करने के लिए सभी समाजों को किसी न किसी उपाय की जरूरत पड़ती है। उनके अनुसार यह सुनिश्चित करने के सबसे कारगर उपाय सामाजिक स्तरीकरण है। यह प्रणाली इसलिए प्रभावी है कि यह समाज में

अलग–अलग पदों या स्थानों के लिए असमान पारितोषिक और विशेषाधिकार देती है। सभी लोगों को अगर समान पुरस्कार दिया जाए तो उनमें कठोर श्रम करने की कोई आकांक्षा नहीं रहेगी। इसके अलावा लोगों में जिम्मेदारी भरे पदों या चुनौतीपूर्ण कार्यों से बचने की प्रवृत्ति भी हो सकती है। उन्हें यह मालूम है कि वे कितना ही उत्कृष्ट कार्य करें और कैसा ही पद या स्थान उन्हें हासिल हो, उन्हें पारितोषिक तो समान ही मिलना है। इसलिए प्रणाली को युचारु रूप से चलाने के लिए स्तरीकरण अनिवार्य है।

vH;kl 2

समाज में स्तरीकरण की जरूरत क्यों है? अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से इस विषय पर चर्चा कीजिए और आपको जो जानकारी मिलती है उसे नोटबुक में लिख लीजिए।

असमान पारितोषिक की इस व्यवस्था के दोहरे लाभ हैं। पहला लाभ यह है कि इससे लोग कुछ खास पदों या स्थानों को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं। पदों से जब अधिक पारितोषिक मिल रहा हो तो इन्हें पाने के लिए लोग अधिक प्रयत्न और परिश्रम करते हैं ताकि उनमें पर्याप्त योग्यता आ जाए। उदाहरण के लिए अगर लेक्चरर का पद अन्य पेशों से अधिक पारितोषिक देता हो तो मेधावी छात्र लेक्चरर बनने के लिए अनिवार्य अर्हताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करेंगे। इससे समाज को अच्छे शिक्षक मिलेंगे। दूसरा, ये पारितोषिक पदों के भर जाने के बाद भी असमान रहने चाहिए ताकि जिन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया गया है उन्हें अपने कार्य को सुधारने की प्ररेणा मिले। लेक्चरर को अगर उनके अध्ययन और शोध कार्य के लिए पदोन्नति और वेतन वृद्धि के जरिए पुरस्कृत किया जाता है तो वे अपने कर्तव्य का निर्वाह निश्चय ही बेहतर ढंग से करते रहेंगे क्योंकि उनमें अधिक पारितोषिक पाने की लालसा रहेगी। असमान पारितोषिक पर आधारित स्तरीकरण प्रणाली इसी तरीके से समाज के लिए लाभकारी होती है।

डेविस और मूर के अनुसार स्तरीकरण की यह प्रणाली स्पर्धा पर आधारित समाज और प्रदत्त पर आधारित पारंपरिक समाज दोनों के लिए सही है। आधुनिक समाज में लोग अपनी प्रवीणता और शैक्षिक योग्यताओं के अनुसार पदों पर विराजते हैं। जो लोग अधिक योग्य और शिक्षित होते हैं उन्हें बेहतर पारितोषिक मिलते हैं और वे प्रतिष्ठित पदों पर आसीन होते हैं। पारंपरिक समाज में पद जन्म के जरिए प्रदत्त होते है। पारंपरिक रूप से जातियों में बंटे भारतीय समाज में लोगों को अपने पद या स्थान योग्यता के कारण नहीं बल्कि जन्म से मिले रुतबे या दर्जे से मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, एक मजदूर का बेटा मजदूर ही बनेगा भले ही उसमें अन्य प्रकार के ऊंचे काम करने की बुद्धिमत्ता हो। इसी तरह एक जमींदार का। बेटा जमींदार ही बनेगा भले ही वह इस कार्य के लिए पूर्णतः अक्षम क्यों न हो। इस तरह की व्यवस्था में असमान पारितोषिक का चलन इसकी कार्यकुशलता को उन्नत नहीं कर सकता। मगर डेविस–मूर तर्क देते हैं कि इस तरह के पारंपरिक समाज में पदों से जुड़े कर्तव्यों के निर्वाह पर जोर दिया जाता है। इसलिए एक मजदूर का बेटा मजदूर ही रहेगा पर अगर वह अपने कर्तव्य, अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करता है तो उसे दूसरे तरीकों से पुरस्कृत किया जाएगा।

cks/k iz'u 2

1) डेविस और मूर ने क्या–क्या प्रकार्यात्मक पूर्वपेक्षाएं बताई हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नीचे दिए गए कथनों में बताइए कि कौन गलत है कौन सहीः

i) समाज में सभी पदों या स्थानों का समान प्रकार्यात्मक महत्व है

ii) गिने चुने लोग ही प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण भूमिकाओं से निर्वाह कर पाते हैं।

iii) प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण भूमिकाओं के निर्वाह के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती।

5-4-3 Mfol vkj ej dh cfu;knh çLFkkiuk,a

अभी तक हमने आपको समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकता के रूप में सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका के बारे में बताया है। आधुनिक समाज में स्थिति/हैसियत (स्टैटस) का आधार व्यक्ति की उपलब्धि होती है न कि प्रदत्त। दूसरे शब्दों में व्यक्ति ही हैसियत या उसका रुतबा उसकी योग्यता से तय होता है न कि उसके जन्म से। ऐसा समाज बड़ा ही गतिशील और परिवर्तनकारी है और अपनी प्रकार्यात्मक पूर्वापक्षाओं को पूरा करने में सक्षम रहता है। डेविस और मूर के अनुसार इसके लिए कुछ प्रस्थापनाएं हर समाज में समान रूप से विद्यमान होती हैंः

1) प्रत्येक समाज में कुछ पद या स्थान कार्य की दृष्टि से अन्य से अधिक महत्वपूर्ण होते है। इन पदों में अधिक पारितोषिक और प्रतिष्ठा मिलती है। उदाहरण के लिए, भारतीय प्रशासनिक सेवा को अन्य नौकरियों से अधिक प्रतिष्ठा हासिल है।

2) इन भूमिकाओं के निर्वाह के लिए सिर्फ गिने–चुने लोगों में अनिवार्य योग्यता या क्षमता होती है। इसका उदाहरण हम आइएएस (भारतीय प्रशासनिक सेवा) परीक्षा में देख सकते हैं, जिसमें बैठते तो हजारों लोग हैं लेकिन कुछ ही प्रत्याशी सफल हो पाते हैं।

3) इन पदों या स्थानों के लिए अधिकतर एक लंबे और गहन प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। जो लोग इन पदों को अर्जित करते हैं उन्हें इसके लिए बड़ा त्याग करना पड़ता है। हमारे समाज में आयुर्विज्ञान, इंजिनीयिरिंग, चार्टर्ड एकांटेसी जैसे कुछ विशेष पेशों में गहन और खर्चीले प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। तिस पर इस प्रशिक्षण में कई वर्ष लगते हैं। डेविस और मूर इसे त्याग की संज्ञा देते हैं और इसलिए ऐसे अभ्यार्थियों को अधिक आर्थिक पारितोषिक और समाज में अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

उपरोक्त प्रस्थापनाएं इस वास्तविकता पर आधारित हैं कि आधुनिक समाजों में उपलब्धि के मूल्यों ने प्रदत्तकारी प्रतिमानों की जगह ले ली है। इन समाजों में व्यक्ति के जन्म से ज्यादा उसकी योग्यता को महत्व दिया जाता है। व्यवसाय क्रम परंपराबद्ध होते हैं और जो लोग शीर्ष पर आसीन रहते हैं उन्हें निचले स्तर के लोगों से अधिक पारितोषिक और प्रतिष्ठा मिलती है। उच्च पारितोषिक की इस व्यवस्था के साथ–साथ यह वास्तविकता लोगों को अपने दायित्व या कार्यों को उत्तम ढंग से पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहने के लिए प्रेरित करती है कि हर कोई इन पारितोषिकों के लिए स्पर्धा कर सकता है। परंतु इन पारितोषिकों को सिर्फ वही लोग पा सकते हैं जो सुपात्र हैं, सुयोग्य और सक्षम हैं। मगर इस तरह की प्रणाली के कायम रहने के लिए सबसे पहले विभिन्न व्यवसायों की महत्ता को लेकर सामाजिक सहमति अनिवार्य है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि श्रेष्ठत के क्रम में व्यवसायों का श्रेणीकरण समाज के मूल्य मतैक्य पर आधारित होता है।

c,Dl 6-02

डेविस और मूर के अनुसार यह तय करने में कठिनाई आ सकती है कि कार्य की दृष्टि से कौन से पद अन्य पदों से अधिक महत्पपूर्ण हैं। संभव है कि जिस पद के लिए अत्याधिक पारितोषिक दिया जा रहा हो जरूरी नहीं कि प्रकार्यात्मक रूप से वह महत्वपूर्ण हो। असल में यही इस सिद्धांत की एक बड़ी कमजोरी है जिसे इस सिद्धांत के आलोचकों ने उठाया है (इस बारे में हम आगे बताएंगे)। डेविस और मूर के अनुसार कोई उच्च पद कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है या नहीं, इसका मूल्यांकन दो तरह से किया जा सकता है। पहला, इसका मूल्यांकन हम यह देखकर कर सकते हैं कि कार्य की दृष्टि से अमुक पद किस सीमा तक विशिष्ट और अनूठा है। इसका यह अर्थ होगा कि इस तरह का कार्य कोई अन्य पद नहीं कर सकता।

यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी कारखाने का इंजीनियर उसके साथ काम करने वाले दक्ष श्रमिक से भिन्न नहीं होता। इसलिए इंजीनियर को मिलने वाले अधिक पारितोषिक का कोई औचित्य नहीं। इसके प्रत्युत्तर में डेविस और मूर तर्क देते हैं कि कार्य की दृष्टि से इंजीनियर अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उसमें एक दक्ष श्रमिक की प्रवीणताएं होती हैं। इसके अलावा उसमें वे प्रवीणताएं भी होती हैं जो एक दक्ष श्रमिक में नहीं होती। इसलिए एक इंजीनियर एक दक्ष कामगार तो हो सकता है मगर एक दक्ष श्रमिक इंजीनियर नहीं हो सकता। दूसरा उपाय इसका मूल्यांकन करना है कि ''जिस पद (या स्थान) की बात की, जा रही है उस पर अन्य पद (स्थान) किस सीमा तक आश्रित हैं।'' एक इंजीनियर मजदूरों से इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उन्हें अपने काम के लिए उसके निर्देशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

संक्षेप में डेविस और मर ने सामाजिक असमानता के कारणों की व्याख्या देकर पारसंस के विचारों को आगे बढ़ाया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि असमान पारितोषिक और प्रतिष्ठा पर आधारित स्तरीकरण प्रणाली समाज में व्यवस्था बनाए रखने और उसकी उन्नति सुनिश्चित करने के लिए जरूरी है।

5-5 MfoM vkj ej d fl)kr dh lekykpuk

ऊपर से डेविस और मूर का सिद्धांत तर्कसंगत और यथार्थवादी लगता है। आखिर सभी समाज सामाजिक और व्यावसायिक गतिशीलता में विश्वास करते हैं। मगर यह

उस समाज के ठीक उलट है जिसमें कोई गतिशीलता नज़र नहीं आती क्योंकि लोगों को भूमिकाएं उनके जन्म के अनुसार निर्दिष्ट की जाती हैं। भारत का संविधान यूं सभी नागरिकों को समान अधिकार देता है। यह जाति, नस्ल, धर्म और सामाजिक–लिंग (जेंडर) के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को अवैध करार देता है। यह आधुनिक समाजों की तरह है जिनमें व्यक्ति की योग्यता को उसके जन्म से अधिक महत्व दिया जाता है। इसके मद्देनज़र डेविस–मूर सिद्धांत यथार्थवादी दिखाई देता है क्योंकि यह समाज में व्याप्त असानताओं की व्याख्या करता है मगर इस सिद्धांत की तरह–तरह से आलोचना हुई है। असल में जब 1945 में अमेरिकन जरनल ऑफ सोशियोलॉजी में इसका प्रकाशन हुआ, तो इसने समाजशास्त्रियों को काफी आकर्षित किसा। इस दौर के अनेक विख्यात समाजशास्त्रियों ने इस सिद्धांत के समर्थन या आलोचना में लेख लिखे। इस पत्रिका ने एक विशेष अंक निकाला जिसमें उसने इन लेखों को प्रकाशित किया। ऐसा माना जाता है कि इस विशेषांक में प्रकाशित सबसे आलोचनात्मक लेखों में सबसे गहरा लेख मेल्विन ट्यूमिन का था। अब हम उन बिंदुओं पर चर्चा करेंगे जो ट्यूमिन अपनी इस मीमांसा में उठाए थे।

ट्यूमिन ने डेविस–मूर सिद्धांत की आलोचना इस बात से शुरू की कि कार्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण पदों को काफी ज्यादा पुरस्कृत किया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पारितोषिक असमान होते हैं क्योंकि कुछ को दूसरों से अधिक पारितोषिक मिलता है। मगर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि कार्य की दृष्टि से पद अधिक महत्वपूर्ण रहते हैं। ऐसा संभव है कि किसी कारखाने में कुछ मजदूर उत्पादन को बनाए रखने के लिए प्रबंधकों को उनसे बेहतर पारितोषिक मिलता है। ऐसी स्थिति में अगर मजदूरों को हटा दिया जाता है तो इससे उत्पादन में अवश्य ही रुकावट आएगी मगर कुछ प्रबंधकों को हटा दिया जाता है तो संभव है कि इससे उत्पादन प्रभावित ही न हो। इसलिए किसी पद की प्रकार्यात्मक महत्ता कैसे तय हो? समाज को डॉक्टरों, वकीलों, श्रमिकों और किसानों की जरूरत पड़ती है। ये सभी स्थान या पद समाज के अस्तित्व के लिए प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण हैं। डेविस और मूर ने इन पदों की प्रकार्यात्मक महत्ता के मूल्यांकन का कोई उपाय नहीं बताया है। असल में कुछ समाजशास्त्रियों का तर्क है कि पद की महत्ता निजी मत से जुड़ी है और यह वस्तुनिष्ठ प्रतिमान नहीं हो सकती।

ट्यूमिन तर्क देते हैं कि लोगों को दिए जाने वाले असमान पारितोषिक जरूरी नहीं कि पदों की प्रकार्यात्मक महत्ता के अनुसार हो। पदों के महत्व के निर्धारण में सत्ताधिकार या शक्ति की भूमिका और इससे ऊंचे पारितोषिक हथिया लेना भी पारितोषिक को तय करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। उदाहरण के लिए, भारत में संगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों को असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों से बेहतर वेतन और सामाजिक सुरक्षा मिल रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि संगठित क्षेत्र के कर्मचारी मजदूर संघों में संगठित हैं और उनमें असंगठित क्षेत्र के कर्मचारियों के मुकाबले सौदेबाजी की क्षमता अधिक होती है। असंगठित क्षेत्र के मजदूर संघों में संगठित नहीं होते और उन्हें कोई सुरक्षा हासिल नहीं होती। दोनों क्षेत्रों में काम एक ही किस्म का होता है लेकिन पारितोषिक और प्रतिष्ठा संगठित क्षेत्र में अधिक है। इसलिए उच्च पारितोषिक के निर्धारण में प्रकार्यात्मक महत्व से अधिक भूमिका सत्ताधिकार या शक्ति की होती है।

ट्यूमिन के अनुसार उच्च पारितोषिक को इस आधार पर उचित ठहराना सही नहीं है कि इन पदों के लिए भारी प्रशिक्षण शामिल होता है। वे कहते हैं कि प्रशिक्षण में जरूरी नहीं कि व्यक्ति को त्याग करना पड़ता हो क्योंकि इससे व्यक्ति नई प्रवीणताएं और ज्ञान अर्जित करके लाभान्वित होता है। इसके अलावा ऐसे मामलों में मिलने वाले पारितोषिक प्रशिक्षण के दौरान किए जाने वाले त्याग से कहीं ज्यादा होते हैं। ट्यूमिन इस प्रस्थापना को भी सही नहीं मानते कि असमान पारितोषिक लोगों को अपने काम को सुधारने के लिए प्रेरित करते हैं। यथार्थ यह है कि इस प्रेरणा से पहले कुछ अवरोध आते हैं। स्तरीकरण प्रणाली मेधावी लोगों को समान बेहतर अवसर उपलब्ध नहीं होने देती। हर समाज में सामाजिक भेदभाव किसी न किसी रूप में मौजद रहता है जो एक अवरोध का काम करता है। फिर भारतीय समाज तो भारी विषमताओं से भरा है जिसमें गरीब बच्चे के लिए अच्छी शिक्षा पाना इतना कठिन है कि वह अपनी स्थिति सुधारने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यही स्थिति अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश की भी है, जहां काले और अन्य अश्वेत लोगों (इन लोगों को वहां "कलई'' कहा जाता है) की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। इसलिए वे बेहतर पदों/स्थानों के लिए स्पर्धा नहीं कर पाते हैं।

असमान पारितोषिक प्रणाली में यह संभावना भी बनी रहती है कि जो लोग ऊंचे पारितोषिक पा रहे हैं उनका यही प्रयास रहेगा कि उनके बच्चों को भी वही पारितोषिक मिले। ये लोग अन्य लोगों को उन स्थानों/पदों में आने से रोकने का प्रयास भी करेंगे जिनमें उनके बच्चे आसीन हैं। उदाहरण के लिए एक चिकित्सक यही चाहेगा कि उसका बच्चा उसका पेशा ही अपनाए। वह सिर्फ यही प्रयास नहीं करेगा कि : उसका बच्चा इस पेशे में आ जाए बल्कि वह अन्य बच्चों को इस पेशे में आने से रोकने का प्रयास भी करेगा। टी.बी, बोटोमोर ने अपनी पुस्तक एलीट्स ऐंड सोसायटीज में बताया है कि ब्रिटेन और फ्रांस जैसे विकसित देशों में भी प्राशसनिक सेवाओं में अधिकांशतः प्रशासनिक अधिकारियों के बच्चे ही हैं।

यह सच है कि जो लोग सामाजिक क्रम परंपरा में सबसे निचले क्रम में हैं उनके पास अपने ज्ञान और प्रवीणताओं को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक साधन सुलभ नहीं होते जिससे कि वे बेहतर पद पाने के लिए सुयोग्य बन सकें। ट्यूमिन कहते हैं कि असमान पारितोषिकों के जरिए प्रेरणा एक ऐसी व्यवस्था में संभव हो सकती है "जिसमें सभी संभावित योग्य व्यक्तियों को प्रवेश और प्रशिक्षण सही मायने में समान रूप से सुलभ हो। तभी विभेदी पारितोषिकों को हम प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण ठहराने की सोच सकते हैं।'' लेकिन अधिकांश समाजों में ऐसा विरले ही संभव हो पाता है। इसलिए ट्यूमिन जोर देकर कहते हैं कि ''स्तरीकरण प्रणाली स्पष्टतया अवसर की पूर्ण समानता के विकास के प्रतिकूल है।'' ट्यूमिन तर्क देते हैं कि जो लोग विभेदी पदों/स्थानों से लाभान्वित हो रहे हैं वे निश्चय ही प्रकार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण पदों को कुटिलता से हथिया सकते हैं। इसलिए ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यवाद सिद्धांत यथार्थवादी नहीं है।

5-6 lkjk'k

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में है। हर समाज की अपनी एक क्रम परंपरा है जिसमें सभी व्यक्तियों का अपना–अपना स्थान नियत है। टैलकॉट पारसंस, किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर जैसे सामाजिक संरचना प्रकार्यात्मकतावादी सिद्धांतकारों के

सामने सबसे बड़ी समस्या यह जानने की थी कि सामाजिक क्रम परंपरा में व्यक्ति किस तरह अलग–अलग स्थान पाते हैं और हमें इन भेदों को आखिर क्यों जरूरत पड़ती है। इन सिद्धांतकारों का यह निष्कर्ष था कि सभी समाजों में स्तरीकरण सिर्फ अपरिहार्य ही नहीं है। बल्कि यह उनके लिए अनिवार्य इसलिए भी है कि यह समाज में स्थायित्व और व्यवस्था बनाए रखता है। टैलकॉट पारसंस ने स्पष्ट किया है कि समाज के सभी सदस्य इन असमानताओं को स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वे यह समझते हैं कि समाज में व्यवस्था और स्थिरता को कायम रखने का यही एकमात्र तरीका है। इसीलिए सामाजिक स्तरीकरण के पैटर्न और सामाजिक असमानता समाज के मूल्यों का हिस्सा बने। इसलिए उन्होंने सामाजिक प्रणाली में स्तरीकरण के स्वरूप को तय करने में मूल्य मतैक्य की भूमिका पर विशेष बल दिया।

डेविस और मूर ने पारसंस के तर्क को आगे बढ़ाया और यह जानने का प्रयत्न किया कि कुछ स्थानों की सामाजिक प्रतिष्ठा अलग–अलग क्यों होती है। उन्होंने यह पाया कि समाज के लिए जो स्थान अधिक महत्वपूर्ण हैं उन्हें उच्च पारितोषिक और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उन्होंने इसके कारण बताए।

मेल्विन ट्यूमिन ने डेविस और मूर की प्रस्थापनाओं की जो समालोचना की उससे स्पष्ट होता है कि प्रकार्यात्मक महत्ता ही यह निर्धारित करने की एकमात्र कसौटी नहीं है कि कौन–सा दर्जा उच्च पारितोषिक देगा।

इसके अलावा अन्य कारक भी हैं जैसे सत्ताधिकार और जन्म पर आधारित हैसियत/स्थिति ('स्टेटस')। यहां तक कि खुले समाज भी इन प्रतिमानों से प्रभावित होते हैं। ट्यूमिन इस सिद्धांत के सभी तर्कों को चुनौती देते हैं और उनका मानना है कि स्तरीकरण समाज के सदस्यों के लिए वैमनष्यकारी हो सकता है।

5-7 'kCnkoyh

eY; erD; % सामाजिक प्रणाली के सभी सदस्यों में यह सहमति कि सबके लिए क्या स्वीकार्य होगा।

çdk;kRed % ऐसे मूल्य जो समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखने और पूर्वाक्षपाएं इस प्रकार समाज के अस्तित्व के लिए जरूरी हैं।

5-8 d[N mi;ksxh iLrdsa

आर. बेंडिक्स और एस.एम. लिप्सेट (संपा.) क्लास, स्टै टस ऐंड पावर, रुटलेज ऐंड केगन पॉल, 1967

5-9 cks/k çu ds mÙkj

cks/k çu 1

1) प्रकार्यात्मक सिद्धांत यह बताता है कि समाज किस तरह से जीवित रह पाता है। प्रकार्यवादी समाज को एक जीव के रूप में देखते हैं। इस जीव के अनेक अंग हैं। इनमें हर अंग अलग होता है मगर सभी एक समेकित इकाई के रूप में काम करते हैं और उसे स्थिरता प्रदान करते हैं।

2) मूल्य असल में साझे विश्वास हैं। मूल्य मतैक्य इसलिए उभरता है क्योंकि समाज के सभी सदस्य अपने दैनिक जीवन में स्थिरता और व्यवस्था चाहते हैं। मूल्य मतैक्य समाज में व्यवस्था, स्थिरता और। सहकार/सहयोग का आधार होता है। यही मूल्य व्यवस्था समाज में श्रेणीकरण और स्तरीकरण को जन्म देती है।

cks/k iz'u 2

1) किसी भी समाज की सबसे पहली जरूरत कारगर ढंग से विभिन्न भूमिकाओं का वितरण है। इसके चार पहलू हैं:

   i) समाज में सभी भूमिकाएं पूरी की जानी चाहिए।

   ii) इन स्थानों को सबसे योग्य और सक्षम व्यक्तियों से भरना चाहिए।

   iii) किसी कार्य की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण जरूरी है।

   iv) भूमिकाओं को सचेतन होकर किया जाना चाहिए।

2) i) गलत

   ii) सही

   iii) गलत

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

bdkbZ 6 fo'ks"krkcks/kd vkSj vUr%fØ;kRed fl)kUr

bdkbZ dh :ijs[kk

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जाति की आरंभिक व्याख्याएं

6.2.1 धार्मिक व्याख्या

6.2.2 जाति की समाजशास्त्रीय व्याख्या

6.3 जाति का विशेषताबोधक सिद्धांत

6.3.1 जी.एस. घुरये

6.3.2 जे.एच. हटन

6.3.3 एम.एन. श्रीनिवास

6.4 जाति का अन्योन्य–क्रियात्मक सिद्धांत

6.4.1 एफ.जी. बैली

6.4.2 ए. मेयर

6.4.3 एम. मैरियॉत

6.4.4 एल. दयुमोंत

6.5 विशेषताबोधक और अन्योन्य–क्रिया सिद्धांतों का मूल्यांकन

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

6-0 mís';

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आपः

- जाति की आरंभिक व्याख्याओं के बारे में बता सकेंगे;
- जाति के अध्ययन में अपनाए जाने वाले विशेषताबोधक सिद्धांत के बारे में बता पाएंगे;
- जाति की अन्योन्य–क्रियात्मक व्याख्या पर रोशनी डाल सकेंगे; तथा
- विशेषताबोधक और अन्योन्य–क्रियात्मक सिद्धांतों की कुछ सीमाओं के बारे में जान सकेंगे।

19-1 çLrkouk

जाति पहचान का भारत के किसी भी गांव, कस्बे या शहर के सामाजिक ताने–बाने से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस इकाई में हम आपको श्रेणीकरण–क्रम की व्याख्या की दिशा में किए गए प्रमुख प्रयत्नों के बारे में बताएंगे और उनका विश्लेषण करेंगे, जो हमें जाति–संरचना में सर्वव्यापी नज़र आता है। इन नजरियों से आपको परिचित कराने के लिए हम आपको जातिगत पहचानः विशेषताबोधक और जाति की आरंभिक धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के बारे में बताएंगे। इससे अन्योन्य–क्रियात्मक सिद्धांत विशेषताबोधक नजरिए के लिए आधार तैयार होगा, जो जाति क्रम–परंपरा का विश्लेषण उसके विभिन्न अपवर्तनीय विशेषताओं की रोशनी में करता है। इसके बाद हम जाति क्रम–परंपरा के अन्योन्य–क्रियात्मक नजरिए पर दृष्टिपात करेंगे। इकाई के अंत में इन दोनों नजरियों की सीमाओं पर प्रकाश डालेंगे।।

19-2 tkfr dh vkjfHkd 0;k[;k,¡

जाति की उत्पत्ति को लेकर अनेक प्रकार की व्याख्याएं दी गई हैं। उसकी आरंभिक व्याख्या अक्सर जाति के 'नैसर्गिक' गुणों या 'अदेय' लक्षणों की अवधारणा के इर्द–गिर्द घूमती हैं। इनमें से कुछ व्याख्याओं का हम यहां विश्लेषण करने जा रहे हैं, इसलिए उससे पहले इन विशेषताओं के बारे में जान लेना उचित रहेगा। जाति की ये विशेषताएं हमें धार्मिक सिद्धांतों और पंथ निरपेक्ष समाजशास्त्रीय व्याख्याओं से मिली हैं। आइए सबसे पहले धार्मिक सिद्धांत जाति के बारे में क्या कहते हैं, यह जानें ।

6-2-1 /kkfeZd 0;k[;k,¡

हिंदू धर्म में जाति की उत्पत्ति को लेकर जो व्याख्या दी गई है वह दैवी उत्पत्ति सिद्धांत है। इस सिद्धांत की धारणा ऋग वेद से लेकर समकालीन भगवद्गीता में उद्धृत श्लोकों से विकसित हुई है। मगर यहां यह कहना जरूरी है कि यह ब्राह्मणवादी व्याख्या है जिसे कई समुदाय नहीं मानते।

c,Dl 6-01

कहा जाता है कि परम पुरुष ने अपनी निररूपी काया से विभिन्न वर्गों की 'सृष्टि' की। इसके उसके अनुसार मस्तक् से ब्राह्मण स्थल से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। 'श्रेणी क्रम' का आयाम या क्रम–परंपरा के अनुसार उनका क्रम निर्धारण उस कार्य से जुड़ा था, जो प्रत्येक वर्ण को पूरा करना होता था। ब्राह्मणों को सर्वोच्च दायित्व या कार्य सौंपे गए। उनका काम ज्ञान को संजोना और पुरोहित संबंधी कार्यों को पूरा करना था। क्षत्रिय का कर्तव्य बाहरी आक्रमणों से समाज की रक्षा, प्रशासन में स्थायित्व लाना और आम प्रजा की रक्षा करना था। वैश्य का कार्य व्यापार और वाणिज्य का सच्चाई और निष्ठा से संचालन करना था। इस क्रम–परंपरा में सबसे निचले पायदान पर माने जाने वाले शूद्र सेवा–चाकरी वर्ण थे, जिनसे अपने से सभी ऊंचे वर्गों की जरूरतों की पूर्ति करने की अपेक्षा की जाती थी।

यह एक चतुर्वर्ण–व्यवस्था है। दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत के अनुसार ये वर्ण आगे चलकर जातियों या जाति समूहों में बंट गएँ जिनके अपने विशिष्ट नैसर्गिक गुण थे। पहले तीन जाति–समूहों को 'द्विज' श्रेणी में रखा गया और उन्हें यज्ञोपवीत संस्कार, जिसे

हम बोलचाल की भाषा में जनेऊ धारण कहते हैं, उस के द्वारा अपनी–अपनी जाति में प्रवेश मिलता था। प्रत्येक समूह एक खास किस्म का पेशा अपना कर उसमें महारत हासिल करने लगा। वह अन्य जाति के काम को नहीं कर सकता था। इस क्रम–परंपरा की अभिव्यक्ति नैसर्गिक–गुणों और परस्पर–व्यवहार दोनों तरह से होती थी।

जाति की दूसरी धार्मिक व्याख्या गुण सिद्धांत पर आधारित है, जो हमें भगवद्गीता सहित कई धार्मिक ग्रंथों से जानने को मिलता है। यह सिद्धांत मनुष्य में पाए जाने वाले विशिष्ट नैसर्गिक गुणों की बात करता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के ये तीन गुण हैं:

i) 'सत्व' यानी सत्य, ज्ञान, सहृदयता, सद्गुण और स्फूर्ति का गुण

ii) 'राजस' यानी कर्मठता, साहस, शौर्य, बाहुबल, सत्ताधिकार और उमंग का गुण

iii) 'तामस' यानी उदासी, नीरसता, मूर्खता और अकर्मण्यता का गुण।

क्रम परंपरा में ब्राह्मणों को सात्विक, तो क्षत्रियों को ब्राह्मणों से नीचे 'राजसिक' श्रेणी में रखा गया था। इसके सबसे निचले पायदान पर 'तामसिक' शूद्रों को रखा गया था।

6-2-2 lekt'kkL=h; 0;k[;k

धार्मिक व्याख्याओं के विपरीत आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्याएं सामाजिक रूप से मान्य वास्तविकता पर आधारित हैं। आइए संक्षेप में हम इसे कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और सेलेस्टिन बौगल के अध्ययन की रोशनी में समझें।

कार्ल मार्क्स के अनुसार सामाजिक समूहों के भूमि से संबंध और स्वामित्व से ही समाज में उनका स्थान तय होता था। उनके अनुसार भारतीय गांवों में दो प्रकार के समूह थे:

क) भूमि जोतने वाली जातियां

ख) कारीगर और चाकर जातियां

भूमि जोतने वाली जातियों ने बेशी उत्पादन किया। मार्क्स के अनुसार इस बेशी उपज को उन्होंने कारीगर जातियों को दिया। बदले में इन जातियों ने अपना पारंपरिक दस्तकारी का कुछ भाग उन्हें दिया। इस प्रकार दोनों जातियों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और आदान–प्रदान के लिए उत्पादन किया। इससे समाज में समरसता बनी रही। मगर इस 'ग्राम गणतंत्र' मॉडल को अयथार्थवादी करार देकर खारिज कर दिया गया है।

ck/k ç'u 1

1) कार्ल मार्क्स ने जाति की जो आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्या पेश की थी, उसके बारे में पांच पंक्तियां लिखिए:

.....

.....

.....

मैक्स वेबर की दृष्टि में जाति एक 'प्रस्थिति–समूह' है जिसके सदस्यों की पहचान उनके सामाजिक और आर्थिक स्थान से होती थी। इसमें उनके लिए एक खास जीवन–शैली अपरिहार्य थी। इस पर एक तरह का बंधन था क्योंकि परस्पर व्यवहार पर कुछ खास अंकुश लगे हुए थे, जिसकी परिधि में उनके काम–धंधे भी आते थे, जिन्हें करने की अनुमति उन्हें थी। जातियों के बीच संबंध 'पवित्रता' और 'अपवित्रता' की स्थितियों के बीच विद्यमान आनुष्ठानिक वैमनष्य से भी तय होता था। इसे व्यक्तियों या वस्तुओं से जोड़ कर देखा जाता था। यानी कौन व्यक्ति जाति के अनुसार छूत है या अछूत है। इस प्रकार, वर्ण क्रम–परंपरा में जातियों को उनकी पवित्रता यानी स्पृश्यता के पैमाने के अनुसार स्थान मिलता था। इसलिए ब्राह्मणों की स्पृश्यता या पवित्रता. का स्तर सर्वोच्च समझा था क्योंकि वे पुरोहिताई जैसे 'साफ–सुथरे' कार्य करते थे। यह भी उतना ही महत्वपूर्ण था कि इस 'पवित्रता' को उन लोगों के स्पर्श से दूर रहकर कायम रखा जाए, जो अछूत थे। इसी कारण से वेबर ने तर्क दिया है कि जाति सामाजिक स्तरीकरण का एक चरम रूप है।

बौगल के अनुसार जाति की पहचान क्रम–परंपरा में उसके स्थान और उसके सदस्यों के पेशे से होती थी। अन्य किस्म की सामाजिक वर्जनाओं के थोपे जाने के कारण जतियां मर्यादा में बंधी रहती थीं। इस प्रकार समूहों के बीच क्रम–परंपरा और पार्थक्य भारतीय समाज की वे विशेषताएं थीं, जिन्होंने वर्ण क्रम–परंपरा में जाति की नियत प्रस्थिति को कायम रखा और उनके बीच पारस्परिक–व्यवहार का स्वरूप तय किया।

6-3 tkfr dk fo'k"krkcks/kd fl)kr

आइए अब उन विद्धानों के नजरिए पर आते हैं जिन्होंने मार्क्स, वेबर और बौगल के आरंभिक विश्लेषण का प्रयोग कर एक ऐसे नजरिए को विकसित किया, जिसे हम विशेषताबोधक सिद्धांत कहते हैं। यह सिद्धांत मुख्यतः वर्ण–व्यवस्था के महत्वपूर्ण गुणों का विवेचन करता है और इसे सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों से अलग दर्शाता है।

ये विशेषताएं वर्ण–व्यवस्था से जुड़े नैसर्गिक अहस्तांतरणीय गुण हैं। इसके अनुसार प्रत्येक जाति में इनमें से कुछ विशेषताएं अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।

6-3-1 th-,l- ?kqjs;

सन् 1930 में जी.एस. घुरये ने जाति की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने हर जाति को क्रम–परंपरा की श्रेणी में एक–दूसरे से पृथक माना। यह श्रेणीकरण जाति के अपने सहजगुणों से उपजा। उनके अनुसार जाति के ये गुण इस प्रकार थेः

i½ l[kM foHkktu% जाति समूह की सदस्यता जन्म से अर्जित होती है और इसी के साथ अन्य जातियों के तुल्य श्रेणी–क्रम में स्थान भी मिलता है।

ii½ Øe&ijiijk % इसके अनुसार समाज श्रेणी–क्रम या श्रेष्ठता या हीनता के संबंधों में व्यवस्थित था। इस प्रकार ब्राह्मणों को क्रम–परंपरा में सर्वोच्च और अछूतों को सबसे नीचे माना जाता था।

iii½ tkfr otZuk,% ये वर्जनाएं हर जाति पर थोपी जाती थीं, जो अपने सदस्यों को कुछ खास समूहों से ही परस्पर–व्यवहार की अनुमति देती थी। इन वर्जनाओं में वेषभूषा, बोल–चाल, रीति–रिवाज, कर्मकांडों के अलावा खान–पान के नियम भी

शामिल थे कि वे किस–किस के हाथ से भोजन स्वीकार कर सकते हैं। यह व्यवस्था समूह के सदस्यों की पवित्रता और इस तरह स्वयं जाति समूह की पवित्रता को बरकरार रखने के लिए बनाई गई थी।

iv½ tkfr n"k.k% इस धारणा के तहत जाति का पूरा प्रयास दूषित करने वाली वस्तुओं से अपवित्र होने से बचना था। इस श्रेणी में गंदे काम–धंधा करने वाले व्यक्ति या कह लें सबसे निम्न जाति के लोग माने जाते थे। दूषण से बचने की इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति जाति समूहों के आवासीय पार्थक्य में होती है।

v½ ikjaifjd i'kk% घुरये के अनुसार हर जाति का एक पारंपरिक पेशा था। पवित्र जातियां साफ–सुथरा पेशा करती थीं। जबकि मलिन और अछूत जातियां गंदा करने वाला पेशा करती थीं।

vi½ lxk= fookg% जातियों का यह अति विशिष्ट लक्षण था। यह उसे एक समूह के रूप में संगठित रखने के लिए जरूरी था जिससे कि उसकी अपनी विशिष्टता बनी रहे। इस का मूल उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि कोई भी सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर पाए।

इन छः सहज विशेषताओं के जरिए घुरये ने उस प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था, जिसके माध्यम से एक जाति समूह अपनी पहचान को बनाए रखता था। सखंड विभाजन, क्रम–परंपरा, जाति वर्जनाओं, जाति दूषण, पारंपरिक व्यवयसाय और एक खास जाति समूह के अंदर विवाह के इन विशिष्ट लक्षणों को बरकरार रख कर जाति समूहों ने अपनी एक अलग पर एक–दूसरे से जुड़ी पहचान बनाए रखी, जिसे उन्होंने पीढ़ी–दर–पीढ़ी जारी रखा।

> vH;kl 1
>
> जी.एस. घुरये ने जाति की जो विशेषताएं बताई हैं उन पर अपने सहपाठियों से चर्चा कीजिए द्य और इस से आप को जो जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

6-3-2 t-,p- gVu

अपनी पुस्तक कास्ट इन इंडिया (भारत में जाति) में जे.एच. हटन ने जाति के ढांचे के बारे में बताया है। हटन के अनुसार सगोत्र–विवाह या अंतर्विवाह वर्ण–व्यवस्था की सबसे मुख्य विशेषता थी। इसी के इर्द–गिर्द नाना प्रकार की वर्जनाओं और प्रतिबंधों का ताना–बाना बुना गया था। विभिन्न जातियों पर जो वर्जनाएं थोपी गई हैं, उनका परस्पर व्यवहार में उल्लंघन कदापि नहीं होना चाहिए। वर्ण–व्यवस्था की एक और बड़ी विशेषता यह थी कि अपनी जाति से बाहर के व्यक्ति के हाथ से बना खाना खाने पर प्रतिबंध था। इन वर्जनाओं से इस तरह के प्रश्न उठते हैं:

i) भोजन कौन बनाता है?

ii) किस तरह के बर्तन में भोजन बनाया गया है?

iii) क्या भोजन 'कच्चा' (पानी में पका) यानी कच्ची रसोई का है या 'पक्का' (तल में पका) यानी चोखी रसोई का है। चोखी रसोई का भोजन अन्य जातियों के हाथ से भी स्वीकार्य होता है।

iv) भोजन के मामले में भी एक क्रम–परंपरा बनी हुई है, जिसमें शाकाहार को मांसाहार से ऊंचा दर्जा दिया गया है। ब्राह्मण आम तौर पर शाकाहारी होते हैं, मगर सभी जगह नहीं। जैसे कश्मीर और बंगाल में ब्राह्मण मांसाहारी भी होते हैं।

ये सभी वर्जनाएं जातिगत पहचान की रचना की प्रक्रिया को दर्शाता हैं। ये जाति समूहों के बीच मौजूद पार्थक्य और क्रम–परंपरा को प्रतिबिंबित करती हैं। इसलिए भोजन को अन्य जाति के व्यक्ति से स्वीकार नहीं करना सामाजिक श्रेणी की श्रेष्ठता को दिखाता है। इस शुचिता को बनाए रखने और 'अपवित्रता' से दूर रहने की धारणा लोगों के आपसी व्यवहार में भी देखने को मिलती है।

उदाहरण के लिए दक्षिण भारत वे कुछ भागों में अपवित्र होने का भय शारीरिक दूरी में परिलक्षित होता है, जिसे श्रेष्ठ और निम्न जातियों के बीच कायम रखा जाता है। श्रेणी क्रम में निम्न समझी जाने वाली जातियों को गांव के मंदिर और कुओं से दूर रहना होता है और ऊंची जाति के लोगों से बातचीत करते समय उन्हें शारीरिक दूरी बनाए रखना होता है। हटन जातिगत पारस्परिक–व्यवहार को अंतर्विवाह, शुचिता और अपवित्रता की धारणा और सहभोजिता संबंधी वर्जनाओं के रूप में नज़र आने वाली विशेषताओं रोशनी में व्याख्या करते हैं। यहां पर आप ने देखा होगा कि घुरये और हटन के सिद्धांतों में कुछ बातें समान हैं।

6-3-3 ,e-,u- Jhfuokl

इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले यहां यह उल्लेख किया जा सकता है कि जो विद्वान गुण प्रधान नजरिए को लेकर चलते हैं, वे जाति के गुणों पर विशेष जोर देते हैं। मगर इस प्रक्रिया में हर विद्वान इस या उस गुण को अधिक महत्व देता है और बताता है कि ये गुण किस तरह लोगों के आपसी व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मगर प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम. एन. श्रीनिवास ने 1950 के दशक में वर्ण–व्यवस्था का गहन विश्लेषण करके इन गुणों के आधार पर जातियों के बीच बनने वाले संबंधों के ढांचे का अध्ययन किया। उन्होंने बड़े ही प्रभावशाली ढंग से जातिगत पहचान के गतिशील पहलू को हमारे सामने रखा है।

स्थितिक गतिशीलता पर श्रीनिवास के अध्ययन में हमें यह पहलू स्पष्ट हो जाता है, जिसे हम संस्कृतीकरण कहते हैं। संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है, जिसमें एक जाति वर्ण क्रम–परंपरा में अपनी श्रेणी को उन्नत बनाने का प्रयत्न करती है जिसके लिए वह श्रेणी क्रम में अपने से ऊंची जाति या जातियों के गुणों को अपना लेती है। इसका यह मतलब है कि वह निम्न या हे; समझे जाने वाले गुणों को धीरे–धीरे त्याग देती है और ऊंची जातियों के गुणों की नकल करती है। इस नकल में शाकाहार, साफ–सुथरे काम–धंधे अपनाना शामिल है।

इससे प्रबल जाति की अवधारणा का गहरा रिश्ता है। किसी भी गांव में जो भी जाति प्रबल होती है वह हमें इन बातों में सबसे अलग नज़र आ जाती है:

i) भारी संख्यात्मक उपस्थिति

ii) भूमि का स्वामित्व

iii) राजनीतिक सत्ताधिकार

इस प्रकार प्रबल जाति संख्या की दृष्टि से ही नहीं बल्कि आर्थिक और राजनीतिक सत्ताधिकार के मामले में भी महत्वपूर्ण ओहदा रखती है। यहां एक और रोचक बात है कि यह जरूरी नहीं कि प्रबल जाति गांव की जाति क्रम–परंपरा में सबसे ऊंचा स्थान रखती हो। यही नहीं, प्रबल जाति गांव में बची अन्य सभी जातियों से सेवा–चाकरी कराने का अधिकार भी रखती है।

ck/k ç'u 2

1) एम.एन. श्रीनिवास ने जाति का जो विशेषताबोधक सिद्धांत रखा है, उसका सार दस पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

6-4 tkfr dk vU;kU;&fØ;kRed fl)kar

यह सिद्धांत इस बात को लेकर चलता है कि स्थानीय अनुभव के स्तर पर जातियां एक दूसरे के सापेक्ष असल में किस–किस श्रेणी में होती हैं।

हमने अभी तक यह तो जान ही लिया है कि जाति के अध्ययन में हम किस प्रकार जाति के गुणों का प्रयोग कर सकते हैं। इससे आपको यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि गुणों का एक समुच्चय परस्पर–व्यवहार से जुड़ी प्रक्रियाओं का द्योतक होता है। इसलिए हम यह कदापि नहीं कह सकते कि गुणों का परस्पर व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बल्कि हमें यह देखने को मिलता है कि परस्पर–व्यवहार के भी अपने गुणात्मक पहलू हैं। सो अब प्रश्न उठता है कि इन पहलुओं में से किसको अन्य से ज्यादा महत्व मिले और जाति की गतिकी और पहचान के सृजन के विश्लेषण में प्रमुखता दी जाए। जाति के अध्ययन में अन्योन्य–क्रियात्मक सिद्धांत की लीक पर जो भी प्रवर्तक अध्ययन कार्य अब तक हुए हैं, आइए उनमें से कुछ के बारे में जानें।

6-4-1 ,Q- th- cyh

बैली के अनुसार जाति की गतिकी और पहचान को पार्थक्य और क्रम–परंपरा के दो सिद्धांत जोड़ कर रखते हैं। उनका मानना है कि "जातियां आनुष्ठानिक और सांसारिक क्रम–परंपरा में अपनी–अपनी जगह लिए होती हैं, जिसकी अभिव्यक्ति परस्पर–व्यवहार के नियमों में होती है।" आनुष्ठानिक व्यवस्था राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था पर हावी रहती है।

c,Dl 6-02

जातियों के बीच संबंध में सिर्फ अनुष्ठान ही नहीं होते। बल्कि उससे सत्ताधिकार का आयाम भी जुड़ा रहता है क्योंकि समाज में एक प्रबल जाति भी मौजूद होती है जिसके चलते अन्य जातियां उसकी अधीनस्थ होती हैं। जाति श्रेणी और जाति पहचान की

अभिव्यक्ति तब होती है जब एक निम्न जाति अपने से ऊंची जाति की नकल करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार आपसी व्यवहार का स्वरूप श्रेणी क्रम–परंपरा में आनुष्ठानिक प्रस्थिति का द्योतक बन जाता है। आपसी–व्यवहार के स्परूप में वे सभी मनोवृत्तियां और प्रथाएं शामिल रहती हैं जिन्हें व्यक्ति भोजन, सेवा, जल, साथ–साथ धूम्रपान, भोजों पर बैठने की व्यवस्था और उपहारों का द्य आदान–प्रदान इन सबको स्वीकार और अस्वीकार करने से जुड़े प्रश्न के मामले में अपनाते हैं।

बैली ने अपने विचार उड़ीसा के बीसीपाड़ा नामक गांव के संदर्भ में रखे हैं। उन्होंने यह बताया कि स्वतंत्रता के बाद क्षत्रियों के हाथों से अधिकांश जमीन निकल जाने से बीसीपाड़ा में जाति स्थिति किस तरह बदल गई। भूमि पर स्वामित्व खत्म हो जाने से आनुष्ठानिक श्रेणीकरण में भी उनका स्थान गिर गया। इससे आपसी–व्यवहार के उपरोक्त पहलुओं यानी अन्य जातियों से भोजन स्वीकार करना और न करना इस में भी स्पष्ट रूप से परिवर्तन आ गया।

6-4-2 ,- e;j

मेयर ने मध्य प्रदेश के रामखेड़ी नामक गांव का अध्ययन किया। वर्ण क्रम–परंपरा के प्रभावों को समझने के लिए मेयर ने जातियों के बीच होने वाले आपसी–व्यवहार को इन बातों की रोशनी में देखाः

i) भोजन, पानी पीना और धूम्रपान में सहभोजिता–यानी भोजन, पानी और धूम्रपान साथ करना

ii) आदान–प्रदान में स्वीकार किए जाने वाला भोजन किस किस्म का है–वह 'कच्चा' है या 'पक्का

iii) भोजन करने का अवसर–कोई अनुष्ठान या सामान्य अवसर

iv) भोजन के अवसर पर बैठने की व्यवस्था अ) भोजन कौन परोसता है और भोजन किसने बनाया है

vi) पानी का पात्र कैसा है–धातु का या मिट्टी का।

सहभोज क्रम–परंपरा इस विश्वास पर आधारित है कि उपरोक्त सभी कारको या इनमें से कोई भी एक कारक किसी भी जाति के लिए कम या ज्यादा दूषण का कारण बन सकता है, जिससे क्रम–परंपरा व्यवस्था में उसकी पहचान और श्रेणी प्रभावित होती है। अब इस क्रम–परंपरा के शीर्ष पर विद्यमान जाति यह सुनिश्चित करेगी कि उसे सिर्फ एक ही जाति के हाथों से भोजन या फिर इस किस्म का भोजन और जलपात्र मिले, जिससे वह अपवित्र न हो पाए। उदाहरण के लिए 'पक्का' भोजन निम्न जाति के हाथों से स्वीकार तो किया जाएगा मगर कच्चा भोजन सिर्फ अपनी जाति या उपजाति में ही स्वीकार्य होगा।

6-4-3 ,e- efj;kV

मैरियोट वर्ण क्रम–परंपरा का विश्लेषण स्थानीय संदर्भ की रोशनी में करते हैं। उन्होंने आनुष्ठानिक–व्यवहार में जाति श्रेणीकरण की व्यवस्था का अध्ययन किया। इस अध्ययन से मैरियोट भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि आनुष्ठानिक क्रम–परंपरा का आर्थिक और राजनीतिक क्रम–परंपराओं से चोली–दामन का साथ है। आम तौर पर

आर्थिक और राजनीतिक श्रेणियां सम्पाती होती हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो आनुष्ठानिक और गैर–आनुष्ठानिक क्रम–परंपराएं दोनों ही जाति–गण में श्रेणीकरण को प्रभावित करती हैं, हालांकि इसमें आनुष्ठानिक क्रम–परंपराएं बड़ी भूमिका अदा करती हैं। इस तरीके से जाति श्रेणीकरण को लेकर विभिन्न जातियों में एक तरह की आम सहमति सी बन जाती है जिसे सामूहिक रूप से उचित मान लिया जाता है और कायम रखा जाता है। यहां एक बात बताना जरूरी है कि यह प्रक्रिया उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि पहली बार देखने में नज़र आती है। इसकी वजह यह है कि समाजशास्त्री तब अध्ययन–क्षेत्र में उतरता है जब यह प्रक्रिया अपने पूर्ण रूप में विकसित हो चुकी होती है। इसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ती और उसे अपने अध्ययन से जो भी जानकारी, आंकड़े इत्यादि मिलते हैं उन्हीं के आधार पर वह इसके निष्कर्ष निकालता है।

मैरियोट ने 1952 में उत्तर–प्रदेश के अलीगढ़ जिले के किशनगढ़ी और राम नागला नामक दो गांवों का अध्ययन किया। मैरियोट के अध्ययन से पता चलता है कि इन गांवों में जाति श्रेणीकरण को लेकर आम सहमति थी। यह निष्कर्ष उन्होंने गांव में अनुष्ठान या आनुष्ठानिक–व्यवहार को देखकर निकाला।

मैरियोट ने जिन दो गांवों का अध्ययन किया था, उनमें हम श्रेणी के निम्न महत्वपूर्ण सूचक पाते हैं:

i) भोजन दिया जाना और स्वीकार किया जाना

ii) सम्मानसूचक संकेतों (नमस्कार इत्यादि) का आदान–प्रदान और प्रथाएं

iii) ब्राह्मणों को सबसे ऊंचा स्थान हासिल है, क्योंकि वे बड़े महत्वपूर्ण या विशिष्ट कर्मकांडों को अंजाम देने का काम करते हैं। इसके साथ वे अन्य जातियों से सभी तरह की सेवाएं भी लेते हैं। ब्राह्मण लोग अन्य ऊंची जातियों से सिर्फ पक्का' भोजन ही स्वीकार करते हैं। इस तरह किसी जाति को तब ऊंचा माना जाता है जब ब्राह्मण उससे 'पक्का' भोजन स्वीकार करे। अगर ब्राह्मण उससे 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं करे तो वह जाति निम्न समझी जाती है। किशन गढ़ी में इस तरह की दस और राम नागला में चार ऐसी ऊंची जातियां पाई गईं। सबसे छोटी जाति को किसी अन्य जाति से कोई सेवा नहीं मिलती। बल्कि वह सभी जातियों को अपनी सेवाएं देती है और उनसे 'कच्चा' भोजन भी स्वीकार करती है।

vH;kl 2

मेयर और मैरियोट ने जाति श्रेणी के जो महत्वपूर्ण सूचक बताएं हैं, उन पर अपने मित्रों और सहपाठियों से चर्चा करें। उससे आपको जो भी जानकारी मिलती है उसे अपनी नोटबुक में लिखें।

इस प्रकार भोजन और सेवाएं कैसे दी जाती हैं और स्वीकार की जाती हैं, ये सब जाति श्रेणीकरण के महत्वपूर्ण सूचक हैं। मगर मैरियोट ने इनके अलावा भी निम्न मामलों में भी ऐसे नियम देखें:

i) साथ–साथ बीड़ी–सिगरेट या हुक्का पीना,

ii) घरों का विन्यास और दिशा

iii) नियुक्तियां और शारीरिक संपर्क

iv) सहभोज और भोजन परोसे जाने का क्रम

किशन गढ़ी में राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व आनुष्ठानिक क्रम–परंपरा के बराबर ही था। आइए अब देखें कि आनुष्ठानिक प्रस्थिति और आर्थिक शक्ति (भूमि स्वामित्व) किस तरह से अतिव्यापान करते हैंः

किशनगढ़ी में जाति श्रेणी और भू–स्वामित्व

– ब्राह्मण

– ऊंची जाति

––निम्न जाति

सबसे छोटी जाति

जातियों में अमूमन अपनी राजनीतिक और आर्थिक प्रस्थिति को अनुष्ठानिक प्रस्थिति में बदलने की प्रवृत्ति हावी रहती है। मगर वहीं जाति क्रम–परंपरा के ढांचे में कुछ असंगतियां भी रहती हैं, जिससे सामाजिक गतिशीलता की संभावना बनती है। हालांकि यह बात सही है कि आपसी–व्यवहार स्थानीय जाति श्रेणी का निर्धारण करने के लिए महत्वपूर्ण है लेकिन इसमें दूसरे गांवों का संदर्भ भी सहायक हो सकता है। आनुष्ठानिक क्रम–परंपरा मोटे तौर पर राजनीतिक और आर्थिक श्रेणी के संगत नज़र आती है। परस्पर–व्यवहार एक प्रदत्त श्रेणी–गण को कायम रखता है, जिसे हम ऊपर बताए गए विभिन्न तथ्यों में देख सकते हैं।

6-4-4 ,y- n;ekr

अन्योन्य–क्रिया धर्मी परिप्रेक्ष्य में जाति के अध्ययन में यूमोंत ने एक नया आयाम जोड़ा। उन्होंने वर्ण–व्यवस्था का जो अध्ययन किया है वह जातियों के सहजगुणों के बजाए उनके बीच विद्यमान संबंधों को केन्द्र बनाकर चलता है। गुणों को हम विभिन्न जातियों के बीच मौजूद संबंध के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। द्युमोंत के अनुसार स्थानीय संदर्भ की जाति श्रेणीकरण और पहचान में भूमिका जरूर है। लेकिन यह भूमिका समूची वर्ण–व्यवस्था को अपने प्रभाव में समेटने वाली जाति क्रम–परंपरा की विचारधारा के प्रत्युत्तर में आती है। द्यमोंत जाति को आर्थिक, राजनीतिक और नातेदारी की व्यवस्थाओं के संबंधों का समुच्चय मानते हैं, जिन्हें मुख्यतः धार्मिक मूल्य बनाए रखते हैं। द्युमोंत के अनुसार जाति एक विशेष किस्म की असमानता है और क्रम–परंपरा ही वह अनिवार्य मूल्य है जो वर्ण–व्यवस्था के मूल में निहित है। यही मूल्य हिन्दू समाज को जोड़ कर रखते हैं।

द्युमोंत कहते हैं कि जाति के विभिन्न पहलू पवित्र और अपवित्र के बीच विरोध के सिद्धांत पर आधारित हैं। पवित्र अपवित्र से श्रेष्ठ है और इसलिए उसे पृथक रखा जाना चाहिए। पवित्र और अपवित्र में विरोध के कारण ही वर्ण–व्यवस्था लोगों को तर्कसंगत दिखाई देती है।

द्युमोंत का यह भी मानना है कि वर्ण–व्यवस्था में क्रम–परंपरा आनुष्ठानिक प्रस्थिति का द्योतक है जो धन–दौलत या सत्ताधिकार के प्रभावों से स्वतंत्र रहती है। अतः क्रम–परंपरा वह सिद्धांत है, जिसके माध्यम से वर्ण–व्यवस्था के तत्व श्रेणीबद्ध रहते हैं।

श्रेणीकरण का स्वरूप मूलतः धार्मिक होता है। भारतीय समाज में प्रस्थिति (ब्राह्मण) को हमेशा सत्ता (राजा) से पृथक करके रखा गया हैं। दूसरे शब्दों में सत्ताधिकार को प्रस्थिति या प्रतिष्ठा से गौण माना जाता है। इसीलिए राजा पुरोहित का अधीनस्थ होता है। मगर दोनों एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार क्रम–परंपरा स्वभाव से आनष्ठानिक है और धर्म उसे आधार देता है। जब सत्ता को प्रस्थिति का अधीनस्थ बना दिया जाता है, तभी इस प्रकार की शुद्ध क्रम–परंपरा विकसित हो सकती है। इसलिए पवित्रता का द्योतक ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है और वह समूची वर्ण–व्यवस्था के शीर्ष पर विराजमान रहता है। मगर ब्राह्मण राजा के साथ मिलकर वर्ण व्यवस्था की सभी अन्य जाति श्रेणियों का विरोध करता है।

द्युमोंत आर्थिक व्यवहार की जजमानी प्रथा को आर्थिक प्रबंध की बजाए एक आनुष्ठानिक अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार जजमानी प्रथा परस्पर–निर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है, और यह परस्पर–निर्भरता भी अपने–आप में धर्म से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सहभोजिता के नियम पार्थक्य के बजाए क्रम–परंपरा को ही प्रतिष्ठित करते हैं। मगर सुचिता का प्रश्न सहभोजिता के सभी अवसरों पर नहीं उठता। इसीलिए धोबी 'परिमार्जक' होता है और वह घरों में स्वतंत्रता से आ–जा सकता है। परंतु वहीं वह उन जातियों के विवाह समारोह में भाग नहीं ले सकता, जिनसे उसका इस तरह का संबंध होता है। आइए अब विशेषताबोधक और अन्योन्य–क्रियात्मक सिद्धांतों की तुलना करें।

बोध प्रश्न 3

1) द्युमोंत के अन्योन्य–क्रियात्मक जाति श्रेणीकरण सिद्धांत के बारे में 10 पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

6-5 fo'k"krkcks/kd vkj vU;kU;&fØ;kRed fl)kurk dk eY;kdu

अब हम इस स्थिति में हैं कि हम दोनों सिद्धांतों में पाई जाने वाली विसंगतियों के बारे में बता सकें। इस सिलसिले में आइए सबसे पहले विशेषताबोधक सिद्धांत पर आते हैं।

i) एम. मैरियोट बताते हैं कि किशन गढ़ी में जिन–जिन जातियों का अध्ययन उन्होंने किया था उनमें से कुछ जातियों को सामाजिक क्रम–परंपरा में उनके गुणों के कारण स्थान नहीं मिला था। उन्होंने पाया कि खान–पान और व्यवसाय संबंधी वर्जनाएं कुछ मामलों में जाति श्रेणी या पहचान का निषेध नहीं करती थीं।

ii) इसके अलावा किशन गढ़ी में जातियों को जो स्थान हासिल था वह उनके पेशे की श्रेष्ठता और हीनता से नहीं आया था। इसलिए वास्तविकताएं सिद्धांत के अनुरूप नहीं पाई गईं।

iii) असल में किसी भी जाति के गुणधर्म और समाज में उसे प्राप्त श्रेणी में काफी विसंगतियां पाई जाती हैं। इसलिए श्रीनिवास ने मैसूर के जिस गांव का अध्ययन किया था इसमें बनिया जाति शाकाहारी थी और उसका पेशा भी किसानों की तुलना में अधिक साफ–सुथरा था। पर इसके बावजूद किसानों की श्रेणी बनियों से ऊंची थी।

iv) इसके अलावा इस सिद्धांत में एक समस्या यह भी उठती है कि जातियों को श्रेणियों में बांटने में किस गुणधर्म का महत्व अधिक है और किसका कम।

विशेषताबोधक सिद्धांत की इन विसंगतियों को देखते हुए ही उसके विकल्प में अन्नोन्य–क्रिया का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया। मगर इस सिद्धांत की भी अपनी कमजोरियां हैं, जो इस प्रकार हैंः

i) अन्योन्य–क्रिया का सिद्धांत सहजगुणों के महत्व को अपने में समेट लेता है। इसीलिए सहजगुणों की बात कहे बिना हम सिर्फ अन्योन्य–क्रिया के आधार पर श्रेणी का निर्धारण नहीं कर सकते।

ii) द्युमोंत के अलावा, अन्योन्य–क्रिया का सिद्धांत क्रम–परंपरा को स्थानीयता के दायरे में सीमित कर देता है और कहता है कि जाति श्रेणीकरण अन्योन्य–क्रिया का परिणाम है। इसलिए इसमें क्रम–परंपरा के बजाए पार्थक्य को विशेष बल मिलता है। द्युमोंत का मानना है कि पवित्रता और अपवित्रता की विचारधारा समूचे हिन्दू समाज से जुड़ी है न कि उसके किसी एक हिस्से से।

iii) द्युमोंत का अध्ययन कार्य काफी हद तक ऐतिहासिक है और वह यह मानकर चलते हैं कि वर्ण–व्यवस्था सदियों से स्थिर रही है, जो कि सत्य नहीं है।

iv) द्युमोंत हालांकि सत्ताधिकार' और 'प्रस्थिति' को स्पष्टतया अलग करके देखते है, पर वहीं यह तर्क भी मिलता है कि सत्ताधिकार को इतिहास की दृष्टि से प्रस्थिति में परिवर्तित कर दिया गया है।

v) अंततोगत्वा जाति के बारे में कहना कि यह मूल्यों (विचारधारा) की सर्वत्र स्वीकृत क्रमबद्ध व्यवस्था है, वह उन विरोध आंदोलनों के साथ न्याय नहीं करता जो जाति विभाजन पर सवालिया निशान लगाते हैं। वर्ण–व्यवस्था में निहित द्वंद्व तो इस सिद्धांत में लुप्त है, लेकिन वहीं इसमें जाति के समाकलनात्मक प्रकार्य यानी समाज को एकता के सूत्र में बांधने में जाति जो भूमिका अदा करती है, उसे अधिक महत्व दिया गया है।

6-6 lkjk'k

इस इकाई में हमने जाति श्रेणी और जातिगत पहचान के विभिन्न पहलुओं के बारे में जाना। इसके शुरू में हमने जाति की धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं समेत उसकी आरंभिक व्याख्याओं पर रोशनी डाली। इसके पश्चात हमने घुरये, हटन और श्रीनिवास जैसे समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित विशेषताबोधक सिद्धांत के बारे में आपको अवगत । कराया। फिर हमने जाति श्रेणीकरण और पहचान की व्याख्या के

लिए अन्योन्यक्रिया के वैकल्पिक सिद्धांत के बारे में बताया जिसमें बैली, मेयर, मैरियोट और द्युमोंत के अध्ययन कार्य शामिल किए गए। इसके बाद हमने दोनों सिद्धांतों का मूल्यांकन किया और देखा कि दोनों में कुछ न कुछ समस्याएं हैं। मगर इससे इतना स्पष्ट तो हो ही जाता है कि हमने जिन अध्ययन कार्यों की चर्चा इस इकाई में की है वे जाति कम परंपरा और श्रेणीकरण की आरंभिक धार्मिक और समाजशास्त्रीय व्याख्याओं से बेहद उन्नत हैं।

6-7 'kCnkoyh

सहजगुण	:	गुण और रूपाकार
सहभोजिता	:	साथ बैठकर भोजन करना
प्रबल जाति	:	वह जाति जो किसी गांव में अपनी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के कारण प्रभावशाली है।
सगोत्र विवाह	:	एक जाति समूह विशेष के भीतर विवाह रचाना
विचारधारा	:	विचारों की एक सुसंगत धारा
जजमानी प्रथा	:	प्रबल जातियों पर आश्रित जातियों द्वारा उन्हें आनुष्ठानबद्ध, निजी, विशिष्ट सेवाएं प्रदान करने का रिवाज
कच्चा भोजन	:	ऐसा खाना जो कच्चा या पानी में पका हो
पक्का भोजन	:	ऐसा खाना जो घी या तेल में बना हो
दूषण	:	गंदी वस्तुओं या जातियों के संपर्क में आने से उत्पन्न होने वाली स्थिति.
पवित्रता	:	आनुष्ठानिक स्वच्छता या सभी दूषित करने वाली वस्तुओं और व्यक्तियों से मुक्त रहने की दशा

6-8 dN mi;kxh iLrd

द्युमोंत, एल. 1970, होमो हायर्किकस, शिकागो, यूनि. ऑव शिकागो प्रेस

मदान, टी.एन. (संपा.) 1971 "ऑन द नेचर ऑव कास्ट इन इंडिया" कांस्टीट्यूशनल्स टू इंडियन सोशियोलाजी

मैंडलबौम, डी.जी. 1987, सोशियोलजी इन इंडिया, बंबई पॉपुलर प्रकाशन

मैरियॉट, एम. "इंटरेक्शनल एंड एट्रीब्यूशनल थ्योरीज ऑव कास्ट रैंकिंग", मैन इन इंडिया (खंड 34, अंक 2)

श्रीनिवास, एम.एन. 1966, सोशल चेंज इन इंडिया, बर्कले, यूनि. ऑव कैलिफोर्निया प्रेस 19.9

6-9 ck/k ç'uk dk mÙkj

ck/k ç'u 1

1) जाति की आरंभिक समाजशास्त्रीय व्याख्याएं इसलिए उल्लेखनीय हैं कि वे ठेठ धार्मिक व्याख्याओं से अलग हटकर चलती हैं। इसलिए कार्ल मार्क्स के अध्ययन

से हमें पता चलता है कि भूमि स्वामित्व का संबंध समाज में किसी भी जाति–समूह की स्थिति को निर्धारित करता है।

cks/k ç'u 2

2) श्रीनिवास जाति को एक सखंड व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार सभी जातियां उप–जातियों में बंटी हैं जो i) सगोत्र विवाह करती हैं, ii) एक पेशा करती हैं, iii) एक सामाजिक और आनुष्ठानिक जीवन की इकाई होती हैं, v) एक ही संस्कृति को मानती हैं और vi) ग्राम सभा या पंचायत द्वारा शासित रहती हैं। श्रीनिवास ने क्रम–परंपरा, जातिगत व्यवसाय, सहभोजिता और वर्जनाओं के कारकों, दूषण के सिद्धांत और जाति पंचायतों को भी अपने अध्ययन में लिया है। श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की जो धारणा प्रस्तुत की है, उसके अनुसार छोटी जाति श्रेणीकरण की प्रणाली में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए ऊंची जाति के गुणों को अपनाती हैं।

cks/k ç'u 3

1) द्युमोंत के अनुसार पवित्रता और दूषण की विचारधारा एक सामान्य विचारधारा है जो किसी एक स्थान के संदर्भ तक सीमित नहीं है। उनके अनुसार जाति आर्थिक, राजनीतिक और नातेदारी व्यवस्थाओं के बीच विद्यमान संबंधों का समुच्चय है। क्रम–परंपरा वर्ण–व्यवस्था के मूल में निहित मूल्य है और यही मूल्य हिन्दू समाज को एक करते हैं। पवित्र अपवित्र से श्रेष्ठ है और उसे पृथक रखा जाना जरूरी है। द्युमोंत के अनुसार सत्ताधिकार प्रस्थिति का अधीनस्थ है और इसीलिए राजा पुरोहित से नीचे होता है। इस प्रकार क्रम–परंपरा आनुष्ठानिक होती है और उसे धर्म आधार प्रदान करता है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY